आधुनिक हिन्दी गद्य की
शैली बनाने वाले
आचार्य

महावीरप्रसाद द्विवेदी

के

करकमलों मे
उनकी सत्तरवी बरस-गाँठ
के उपलक्ष मे

वस्तुकथा

अपने देश के वाङ्मय के अमर रत्नों को चुनने का सपना मेरे मन में पहले-पहल, जहाँ तक याद पड़ता है, संवत् १९८४ में प्रकट हुआ था। तब इसकी चर्चा मैंने अपने और अनेक सपनों की तरह स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी से की थी; और एक बार स्वर्गीय पं० रामजीलाल शर्मा से भी यह प्रसंग छिड़ा था। सं० १९८९ के शुरू में नेपाल से लौटते हुए काशी में आदरणीय मित्र राय कृष्णदास जी के साथ बातों में पाँच बरस पुराना वह सपना फिर जाग उठा। उन्होंने आग्रह किया कि मैं इस स्वप्न को योजना का रूप दूँ, और वह योजना नागरी-प्रचारिणी सभा काशी के सामने रक्खी जाय। वैसा ही हुआ। फिर जब आचार्य द्विवेदी की सत्तरवीं बरस-गाँठ पर राय साहब ने मुझसे उन्हें कुछ फूल-पत्ती भेंट करने को कहा, तब साथ ही यह आज्ञा दी कि मैं उसी योजना को लेख का रूप दूँ। द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ में यह लेख प्रकाशित होने पर कई मित्रों ने आग्रह किया कि इसे पुस्तिका के रूप में छपा लिया जाय। वैसा करने से पहले मैंने लेख का पुनः संस्करण कर दिया है। पहले मैंने सोचा कि

या पुस्तिका में योजना की तरफ संकेत न करूँ; पर पीछे

वह संकेत रखना इस कारण उचित दीख पड़ा कि उस

बहाने पाठक-पाठिकाओं को ठीक अन्दाज़ हो जायगा कि हमारे वाङ्मय के किस अंश में रत्नों का परिमाण कितना है।

मुझे आशा है कि पाठक-पाठिकाओं को अपनी संस्कृति की विरासत का ठीक ठीक पता देने में यह पुस्तिका सहायक होगी। विशेष कर संस्कृत और हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों को इससे यह ठीक पता मिल सकेगा कि भारतीय वाङ्मय के किस अंश का विकास इतिहास की किन परिस्थितियों में हुआ है। किसी वस्तु के स्वरूप को हम तब तक ठीक समझ ही नहीं सकते जब तक यह न देखें कि किन इतिहास-परिस्थितियों में उसका जन्म और विकास हुआ है। एक छोटा सा नमूना। बचपन में जब मैंने अमरकोश पढ़ा, उसके देवकाण्ड के विषय में मुझे यह बात खटकती कि वहाँ विष्णु के नामों में केवल कृष्णावतार के नाम क्यों गिनाये हैं; मैं सोचता या तो सब अवतारों के नाम होते या किसी के न होते; वैसा सोच कर मैं अमरसिंह की विषय-विभाग-शैली को दोष दिया करता। अब इतिहास पढ़ने पर यह बात समझ आई कि अमरसिंह के समय तक रामावतार का विचार उठा ही न था।

भारतीय वाङ्मय के विकास के इस दिग्दर्शन को पसन्द किया गया तो इसी नमूने पर भारतीय वर्णमाला के विकास का दिग्दर्शन कराने का भी मेरा विचार है।

प्रयाग,
१० असौज १९९०

जयचन्द्र ना[illegible]

ढाँचा

भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न

§ १. प्रस्तावना

हमारे देश की ऊपर से दीखने वाली विविधता के भीतर एक बड़ी गहरी एकता है। विविधता उसके बाहरी नाम-रूप में है, एकता उसके विचारों की आन्तरिक प्रवृत्तियों और संस्कृति मे। भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न लिपियों की तह मे जैसे एक ही वर्ण-माला है, वैसे ही उसकी अनेक भाषाओं के माध्यमों मे एक ही वाङ्मय का विकास हुआ है।[1] भारतीय वाङ्मय की वह आन्तरिक एकता भारतवर्ष के विचारों और संस्कृति की एकता की सूचक है। और यद्यपि उस वाङ्मय का आत्मा एक है, तो भी वह इतिहास के परिपाक के अनुसार अनेक भाषाओं, रूपों और परिस्थितियों में प्रकट हुआ है। भारतवर्ष के जीवन और संस्कृति

---

१. देखिए भारतभूमि और उसके निवासी § ४१।

का विकास भारतीय वाङ्मय के उन विभिन्न रूपों के विकास मे ही ठीक-ठीक देखा जा सकता है।

उस वाङ्मय का उदय पहले-पहल भारतवर्ष की आर्य भाषाओं में हुआ। बहुत समय बाद द्राविड भाषाओं में भी आर्यावर्त्ती भाषाओं की कलम लगी, और वे भी वाङ्मय से फूलने-फलने लगीं। इधर आर्य भाषाओं मे भी एक के बाद दूसरी यौवन पर आती और वाङ्मय का विकास करती रही। और काल बीत जाने पर भारतीय उपनिवेशों और सभ्यता के साथ-साथ भारतीय वाङ्मय की पौद भारतवर्ष के बाहर अनेक देशों मे भी जा लगी। पहले तो उन देशों मे आर्यावर्त्ती भाषाएँ ही फूली-फलीं, किन्तु पीछे उनके रससिञ्चन से स्थानीय भाषाएँ भी परिष्कृत और साहित्य-पुष्पित होने लगीं। उन भाषाओं के वाङ्मयों का भी बीज या आत्मा आर्यावर्त्ती ही रहा—वह केवल नये रूपों मे प्रकट हुआ। इस प्रकार उपरले हिंद (Serindia, आधुनिक चीनी तुर्किस्तान या सिम् कियाङ) की तुखारी और खोतनदेशी भाषाओं में, पूरबी ईरान की सुग्धी[1] मे, नेपाल की नेवारी, तिब्बत की तिब्बती और अंशतः चीनी में भी, एवं जावा

---

१. वंक्षु (आमू) और सीर नदियों के बीच का दोआब, जिसमें अब बुखारा-समरकंद की बस्तियाँ हैं, प्राचीन काल में—तुर्कों के आने से पहले—ईरान का ही एक अंश था, और वह सुग्ध कहलाता था। मुस्लिम युग में उसी का नाम मवारुन्नहर रहा।

की कवि भाषा आदि में भारतीय वाङ्मय का ही विकास भिन्न-भिन्न रूपो मे हुआ।

किन्तु भारताय मन और मस्तिष्क ने चाहे जिस भाषा में अपने को प्रकट किया उसमें उसने कुछ ऐसे रत्न पैदा किये जो त्रैकालिक और अमर हैं। इन सब रत्नों को एक साथ एक जगह उपस्थित कर के देखने से भारतीय वाङ्मय का—और उसके द्वारा भारतीय संस्कृति का—समन्वयात्मक दर्शन बहुत ठीक हो सकता है। और अन्त में उस चयन और संकलन के द्वारा भारतीय वाङ्मय का एक वास्तविक पूर्ण इतिहास लिखा जा सकता है। सच कहें तो भारतवर्ष का एक पूर्ण इतिहास तैयार करने का भी यही उचित मार्ग है। इस समन्वय-दर्शन के काम के लिए भारतवर्ष की वह भाषा सबसे अधिक उपयुक्त होगी जो समस्त भारत में एक सूत्र पिरोने वाली भारत की राष्ट्रभाषा है। किसी समय यह काम संस्कृत करती थी। संस्कृत द्वारा विभिन्न भारतीय जनपदों के वाङ्मयों में विनिमय होता—संस्कृत के ग्रन्थों का उनमे अनुवाद होता, और उनके अच्छे ग्रन्थों का संस्कृत में (जैसे पालि तिपिटक का या गुणाढ्य की बृहत्कथा का)। आज वही काम हिन्दी को करना होगा। ऐसा करने से उसकी समन्वय-शक्ति—राष्ट्रभाषापन—भी बहुत बढ़ेगी।

ये विचार हमे एक योजना की तरफ़ ले जाते हैं, और वह योजना मेरे मन मे कई बरस से घूम रही है। पहले-पहल वह

भारतवर्ष का एक समन्वयात्मक इतिहास तैयार करते समय जगी थी। योजना यह है कि भारतीय वाङ्मय के प्रत्येक अंश में जो त्रैकालिक मूल्य की अमर रचनाएँ उपस्थित हैं, उन्हें चुन कर, उनमे से प्रत्येक का मूल से सीधा प्रामाणिक अनुवाद बड़ी सावधानी से करा के उन्हें एक माला मे संकलित किया जाय। पचास बरसों मे भी यह योजना पूरी हो सके तो सन्तोष की बात होगी। भारतवर्ष के राष्ट्रीय समन्वय के लिए उससे एक बड़े महत्त्व का काम हो जायगा।

इस निबन्ध मे भारतीय वाङ्मय के विकास-क्रम का एक बहुत संक्षिप्त दिग्दर्शन किया जायगा, और उस दिग्दर्शन मे हमें अपना ध्यान बराबर उसके अमर रत्नों की तरफ़ रखना होगा। उन रत्नो के चयन की योजना का भी उसी के साथ साथ संकेत होता जायगा।

§ २. वेद

न केवल भारतवर्ष मे, प्रत्युत संसार भर मे, पहले-पहल मनुष्य की प्रतिभा जिन वाङ्मयों के रूप मे पुष्पित हुई उनमें प्रमुख हमारा वेद है। वेद आज हमें संहिताओ अर्थात् सकलनों के रूप में मिलता है। वे संहिताएँ महाभारत-युद्ध के समकालीन कृष्ण-द्वैपायन मुनि ने की थीं, जिस कारण उनका उपनाम वेदव्यास —अर्थात् वेदों का वर्गीकरण करने वाला—हो गया। महाभारत-युद्ध का समय हम अनेक प्रामाणिक विद्वानों का अनुसरण करते

हुए १४२४ ई० पू० मान सकते हैं। हमारी प्राचीन अनुश्रुति से पता चलता है कि कृष्ण-द्वैपायन पहले संहिताकार न थे; संहिताए बनाने का कार्य उनके करीब बीस पीढ़ी—प्रायः साढ़े तीन सौ बरस—पहले से (अर्थात् अंदाजन १७७५ ई० पू० से) शुरू हो चुका था। वैदिक वाङ्मय त्रयी कहलाता है। उस त्रयी मे ऋक् यजुष् और साम—अर्थात् पद्य, गद्य और गीतियों—की संहिताएँ सम्मिलित हैं। वे ऋचाएँ, यजुष् और साम संहिता रूप में आने से पहले विभिन्न कवियों के कुलों या शिष्यसन्तान मे जमा होती आती थीं। हमे सबसे पहले जिन ऋषियों अर्थात् ऋचाकारों के नाम मिलते हैं, वे अनुश्रुति के अनुसार वेदव्यास के प्रायः पैंसठ पीढ़ी पहले हो चुके थे। तब से ले कर संहिता-युग के शुरू होने तक ऋषियों का सिलसिला जारी रहा;—अर्थात् अंदाज़न २४७५ ई० पू० में ऋचाएँ पहले-पहल प्रकट हुईं, तब से अंदाज़न सात सौ बरस तक वे बनती रहीं, उसके बाद उनके संकलन का ज़माना आया। भारतीय इतिहास की रूपरेखा नामक अपने ग्रन्थ में मैंने यह मत प्रकट किया है कि महाभारत-युद्ध के प्रायः चार शताब्दी पहले आर्यावर्त्त मे लिपि—अर्थात् लिखने की रीति—का आविष्कार हुआ, और उस आविष्कार ने ही उस समय तक के वेद अर्थात् ज्ञान की सहिताएँ बनाने—संकलन करने—की एक प्रबल प्रेरणा आर्यों को दी।

वैदिक आर्य बड़े जीवट वाले, प्रतिभाशाली, साहसी और रसिक थे। उनके वाङ्मय में उनके उन सब गुणों की छाप है।

निराशता की उसमें गन्ध भी नहीं। उसमे एक अनुपम और सनातन ताज़गी है, जो पढ़ने वाले के जी को हरा कर देती है। हमारी आधुनिक दृष्टि से वेद का सार और निचोड़ तथा वैदिक आर्यों के जीवन और विचारों का एक जीता-जागता चित्र हमारे सामने रखने के लिए तीन तीन सौ पृष्ठों की दो या तीन जिल्दों मे वेद के चुने अंशो का अनुवाद काफी हो सकता है।

§ ३. उत्तर वैदिक वाङ्मय

अ. ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्

संहिताएँ बनने के बाद आर्यों की विचारधारा कई दिशाओं मे बह निकली। आर्य लोग प्रकृति की शक्तियों को दिव्य रूप में देखते और अपने उन देवताओ की तृप्ति के लिए यज्ञ करते थे। वे यज्ञ उनके सामूहिक जीवन की मर्यादा बनाये रखते, तथा उनके लिए परस्पर मिलने और ऊँची बातों पर विचार करने के अवसर उपस्थित करते। उनमें ऋचाएँ और साम (गीतियाँ) पढ़ी और गाई जातीं तथा यजुषों का विनियोग होता। आर्यों के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के सब संस्कार यज्ञात्मक और यज्ञो पर केन्द्रित थे। बाद में पुरोहितों ने उन यज्ञों का आडम्बर बहुत बढ़ा कर उन्हें जड सा बना दिया। अपनी कार्यप्रणाली को दर्ज करने के लिए उन्होंने एक नए वाङ्मय की रचना की जो ब्राह्मण-ग्रन्थों के नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञान की खोज में लगे कुछ

विचारशील लोगों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों के कर्मकाण्ड के विरुद्ध पुकार उठाई। संसार के मूल तत्त्वों को टटोलने के उनके उन प्रारम्भिक प्रयत्नो से आरण्यको—अर्थात् जंगलों में लिखे गए ग्रन्थों—और उपनिषदो का वाङ्मय उत्पन्न हुआ। उपनिषदों में आर्यों का सब से पुराना दार्शनिक चिन्तन दर्ज है। सचाई की खोज के लिए उनकी आतुर तड़पन के अनेक जीवित चित्र उनमे पाये जाते हैं। प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद द्वारा हम एक-दो जिल्दों में ब्राह्मणों और आरण्यकों के तथा एक मे उपनिषदों के विचारों का दिग्दर्शन पा सकते हैं।

*

३. वेदांग

संहिताएँ तैयार होने के साथ-साथ विचार, खोज और अध्ययन का एक और सिलसिला भी जाग उठा था। आरम्भिक कविताएँ—ऋचाएँ और साम—सजीव हृदयों के सहज उद्‌गार थीं। अनपढ़ आदमी भी बोलते और बात करते हैं। यदि वे बुद्धिमान हों तो बड़ी सयानी बातें भी करते हैं। यदि उनके मन मे कुछ भावों की लहर उठे—और यदि उनके अन्दर वह सहज सुरुचि हो जिससे मनुष्य भाषा के सौष्ठव और शब्दों के सुर-ताल का अनुभव करता है—तो वे अक्षर पढ़ना जाने बिना भी गा सकते, गीत रच सकते, और कविता कर सकते हैं। आरम्भ के सब कवि ऐसे ही थे। उनकी कविताओं मे विचारों और भावों का स्वाभाविक प्रकाश था, विद्वत्तापूर्ण बनावटी सौन्दर्य नहीं।

ऐसी रचनाएँ जब बहुत हो चुकीं, तब उन्हे बार-बार सुनने से विचारकों का ध्यान उनके सुर-ताल, उनके छन्दों की बनावट, उन की शब्द-रचना के नियमों और उन शब्दों को बनाने वाले उच्चारणों की तरफ़ गया। और तब इन विषयों की छानबीन होने पर छन्दः शास्त्र, वर्णमाला और वर्णोच्चारण-शास्त्र तथा व्याकरण आदि की धीरे-धीरे उत्पत्ति हुई। वर्णों के उच्चारण के नियमों को ही हमारे पुरखा शिक्षा कहते। आधुनिक परिभाषा मे हम उसे वर्ण-विज्ञान या स्वरविज्ञान (Phonetics) कह सकते हैं। छन्दःशास्त्र और व्याकरण से पहले वर्ण-विज्ञान का होना आवश्यक है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, उस विज्ञान का उदय महाभारत युद्ध के प्राय: चार सौ बरस पहले हुआ। उस विज्ञान मे हमारे पुरखों ने उस प्राचीन जमाने में आश्चर्य-जनक उन्नति कर ली। अपनी वर्णमाला को उस युग मे ही उन्होंने जो वैज्ञानिक पूर्णता दे दी, संसार की और कोई वर्णमाला आज तक उसे नहीं पहुँच पाई। उत्तर वैदिक काल के सर्वप्रथम व्याकरण-ग्रन्थ प्रातिशाख्य कहलाते हैं। व्याकरण के साथ-साथ निरुक्त नामक विज्ञान का उदय हुआ। उसमें शब्दों का निर्वचन किया जाता—अर्थात् मूल धातु से विकास टटोला जाता। यह शास्त्र भी भारतवर्ष के लिए जितना पुराना है, आधुनिक जगत् के लिए उतना ही नया है। उत्तर वैदिक युग के अनेक निरुक्त-ग्रन्थों में से अब केवल यास्क मुनि (अंदाजन सातवीं शताब्दी ई० पू०) का निरुक्त बचा है। शिक्षा, छंदस्, व्याकरण और निरुक्त—ये चारों वेदांग हैं। चारों ही

शब्द-शास्त्र—अर्थात् भाषा-विषयक विज्ञान—के अंग हैं। इनके साथ दो और वेदांगों को गिनने से छः वेदांगों और उत्तर वैदिक वाङ्मय की गिनती पूरी होती है। उन दो में से एक था ज्योतिष, और दूसरा कल्प। ज्योतिष प्राचीन आर्यों का एकमात्र भौतिक विज्ञान था। वैदिक ज्योतिष का कोई ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। कल्प में आर्यों के व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक अनुष्ठान का समुच्चय था, जो क्रमशः श्रौत, गृह्य और धर्म कहलाता। इस प्रकार, ब्राह्मण-ग्रन्थों के कर्मकांड का सार कल्प-ग्रन्थों में आ गया।

वेदांग-ग्रन्थों से हमारे देश में एक अनुपम शैली शुरू हुई। थोड़े से थोड़े शब्दों में अधिक से अधिक विचार भर देना उस शैली का सार है। वह सूत्र-शैली कहलाती है। वह शैली ही स्वयं बड़ी मनोरञ्जक है। उपस्थित वेदांग-ग्रन्थ व्यक्तियो की रचनाएँ नही हैं। उनके कर्त्ताओं के नाम हम नहीं जानते। यही हाल सारे उत्तर वैदिक वाङ्मय का है। वह शाखाओं अथवा चरणों—अर्थात् सम्प्रदायो—की उपज है। एक-एक शाखा की गुरु-शिष्य-परम्परा मे वह उत्तरोत्तर मँजता और सम्पादित होता रहा है। इसी कारण, उपस्थित धर्मसूत्र यद्यपि पाँचवीं से तीसरी शताब्दी ई० पू० तक के हैं, तथापि उनमें कई शताब्दी पहले की सामग्री तथा जीवन का चित्र है।

हिन्दी अनुवाद द्वारा वेदांग-वाङ्मय का दिग्दर्शन करना हो तो शिक्षा, निरुक्त और प्रातिशाख्य के लिए एक जिल्द और श्रौत

तथा गृह्य सूत्रों के लिए एक जिल्द बस होगी; धर्मसूत्रों के लिए दो-एक अलग जिल्दों की आवश्यकता होगी।

§ ४. पुराण-इतिहास

आरम्भिक आर्यों के वेद अर्थात् ज्ञान में ऋचों, यजुषों और सामों की त्रयी के अतिरिक्त बहुत से आख्यान, उपाख्यान, गाथाएँ और पुराण (पुरानी कहानियाँ) भी सम्मिलित थे। त्रयी देवता-परक, धर्म-परक थी। इन आख्यानों, उपाख्यानों और गाथाओं (गीतमयी कहानियों) मे आर्यों के अपने पुरखो की घटनाओं का वृत्तान्त था। त्रयी के ज्ञाता जैसे ऋषि कहलाते, वैसे ही इन आख्यानों आदि के विद्वान् सूत कहलाते। वैदिक समाज में सूतों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। कृष्ण-द्वैपायन ने जहाँ त्रयी संहिताएँ बनाई वहाँ सूतों की कृतियों से पुराण-संहिता भी रची। प्राचीन विद्वान् वेद-संहिताओं का परिगणन यों करते कि 'साम, ऋक् और यजुर्वेद—यह त्रयी है; अथर्ववेद और इतिहासवेद—ये कुल (पाँच) वेद हैं।'[1] पहले तीन वेदों मे आर्य जनता के ऊँचे दर्जे के लोगों—ऋषियों—के विचार संकलित हैं। अथर्ववेद में जन-साधारण के अभिचार-कृत्या और जादू-टोना-विषयक विश्वासों का भी समावेश हुआ है। हमें अथर्व से यहाँ मतलब नहीं, क्योंकि अब उसका परिगणन वेदों मे ही होता है। वेदव्यास ने

---

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र, १.३।

महाभारत-युद्ध तक के आख्यानों, उपाख्यानों आदि का संकलन पुराण-संहिता मे कर दिया।

बाद की घटनाओ के भी वृत्तान्त दर्ज होते रहे। किन्तु पिछले सूतों ने उन्हे एक विचित्र शैली मे कहा। उन्होने वेदव्यास के मुँह से ही अपने समय का वृत्तान्त इस प्रकार कहलाया मानो वे भविष्य की बात कह रहे हों। एक भविष्यत् पुराण बनता गया, जिसका उल्लेख हम पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे पाते है। भविष्यत् और पुराण—ये परस्पर-विरोधी शब्द है। पुराण का विशेषण भविष्यत् होने से सूचित है कि पुराण शब्द का मूल अर्थ तब तक भूला जा चुका और वह योगरूढि हो कर एक विशेष प्रकार के वाङ्मय के लिए प्रसिद्ध हो चुका था। इसी से सिद्ध है कि पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से पहले पुराण उपस्थित थे। भविष्य मे गुप्त-साम्राज्य के उदय तक की घटनाओं का वृत्तान्त जुड़ता रहा। वहाँ आ कर पौराणिक इतिहास समाप्त हो जाता है। पीछे दूसरे पुराणो ने भी भविष्य वृत्तान्त ले लिया।

पुराण शुरू मे पंचलक्षण था—उसमे केवल पाँच विषय थे। किन्तु प्राचीन काल के बाद पुराण-ग्रन्थों में उनके मुख्य विषयों के अतिरिक्त बहुत से दूसरे विषय भी भर दिए गए। उनकी कहानियों के पुराने नायकों के मुँह मे बहुत-से उपदेश भर कर पुराणों को धर्म-परक ग्रन्थ बना दिया गया। पुराणो के साथ छेड़छाड़ इतनी अधिक हुई है कि उनकी अनेक सतहो को अलग-अलग करना भी अब बड़ा कठिन काम हो गया है। तो भी आधुनिक खोज ने

वैसी बारीक छानबीन के तरीके निकाल लिए हैं। पहले-पहल स्वर्गीय अँग्रेज विद्वान् पार्जीटर ने सब पुराणों से कलियुग-वंशावलियों से सम्बन्ध रखने वाले सन्दर्भ निकाल कर उनके तुलनात्मक अध्ययन से उनका मूल प्रामाणिक पाठ तैयार करने की चेष्टा की। फिर जर्मन विद्वान् किर्फेल ने पुराणों के पचलक्षण अंश को अलग निकाल कर उसका उसी तरह सम्पादन किया। इस ढंग से पुराण के भिन्न-भिन्न स्तरों को अलग-अलग कर के सम्पादन करने मे ही लाभ है। और वैसा करने से शायद दस एक जिल्दों में पौराणिक वाङ्मय का निष्कर्ष हिन्दी मे आ सके। रामायण और महाभारत का मूल काव्य-रूप भी पहले-पहल अन्दाज़न पाँचवीं शताब्दी ई० पू० मे लिखा गया। वह कथा-अंश पुराण-इतिहास-वाङ्मय का ही भाग है, यद्यपि अब तो महाभारत एक विश्वकोष बन चुका है। उस अंश का सम्पादन भी पुराण-इतिहास-वाङ्मय के सिलसिले में ही होना चाहिए।

§ ५. आरम्भिक संस्कृत वाङ्मय

वेद से वेदांगों का उदय होने मे कई नई विद्याओं का जन्म हुआ था। पीछे और परिपक्व होने पर वे स्वतन्त्र विद्याएँ बन गईं, वेद का अंग-मात्र न रहीं। इस प्रकार व्याकरण का उदय एक वेदांग-रूप में हुआ था; पर पाणिनि के व्याकरण को हम वेदांग मे नहीं गिनते। पाणिनि का समय पाँचवीं शताब्दी ई० पू० है।

उस समय तक आर्यों के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन में बड़े-बड़े परिवर्त्तन हो चुके थे। वैदिक आर्यों के राज्य

जनों अर्थात् कबीलों के थे। उत्तर वैदिक युग (१४००—७०० ई० पू०) मे जनपदों—अर्थात् देशों—का उदय हुआ, और जानपद राज्य होने लगे। उसके बाद कई-कई जनपदों के एक में मिलने से महाजनपदों को सृष्टि हुई। सतवीं-छठी शताब्दी ई० पू० मे महाजनपदों की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता से अन्त में मगध का पहला साम्राज्य खड़ा हुआ, जो पाँचवीं और चौथी शताब्दी ई० पू० में बना रहा। मगध के उस पहले साम्राज्य के युग को हम पूर्व-नन्द-युग कहते हैं, क्योंकि उस साम्राज्य के संस्थापक पहले नन्द राजा थे। वैदिक युग मे आर्य लोग उत्तर भारत में थे; उत्तर वैदिक मे वे गोदावरी-काँठे तक बढ़े। महाजनपद-युग में वे ताम्रपर्णी (लङ्का) तक आने-जाने लगे, और पूर्व-नन्द-युग में पांड्य देश[1] और सिंहल (लंका) में उनके उपनिवेश स्थापित हो कर सारे भारत का आर्यीकरण पूरा हुआ। वैदिक समाज कृषकों और पशुपालकों का था, पर महाजनपद और पूर्व नन्द युगो मे शिल्प का खूब विकास हुआ; शिल्पियों की श्रेणियाँ और वणिजो के निगम बने, वाणिज्य के कारण नगरियों का उदय हुआ, और उन नगरियों का प्रबन्ध करने वाली संस्थाएँ—पूग—उठ खड़ी हुईं। आर्थिक और राजनीतिक जीवन के इस प्रकार परिपक्व होने, और उनमे उक्त अनेक प्रकार के निकाय (सामूहिक संस्थाएँ) पैदा हो जाने से, उनके पारस्परिक सम्बन्ध लेन-देन और अधिकार नियत करने के लिए

---

१. आधुनिक मदुरा और तिरुनेवली ज़िले।

व्यवहार (कानून) नाम की एक नई वस्तु पैदा हो गई। धर्म और व्यवहार दोनों इस युग की उपज थे—धर्म आनुष्ठानिक जीवन के कानून थे और व्यवहार लौकिक जीवन के। धर्म धर्मशास्त्र[1] का विषय था, और व्यवहार अर्थशास्त्र का। अर्थ या अर्थशास्त्र नाम का यह नया वाङ्मय सातवीं-छठी शताब्दी ई० पू० से पैदा होने लगा; उसका उल्लेख पालि जातकों—मे जिनकी चर्चा आगे की गई है—मिलता है।

इस प्रकार महाजनपद- और पूर्व-नन्द युग में जहाँ पुराने वेदांग के विषय स्वतन्त्र शास्त्र बने, वहाँ नये शास्त्रों का उदय भी हुआ। पाणिनि की अष्टाध्यायी (४. ३. ११०) से सूचित है कि उनसे पहले किसी किस्म का एक नटसूत्र—अर्थात् नाट्यशास्त्र—भी था। उसकी गिनती धर्म और अर्थ के अतिरिक्त काम—अर्थात् ललित-कला-विषयक—ग्रन्थों में करनी चाहिए। उपनिषदों से सूचित होता है कि खास कामशास्त्र-विषयक विचार श्वेतकेतु के समय—उत्तर वैदिक युग—से ही शुरू हो चुका था। किन्तु तब तक वह एक गौण विषय था, क्योंकि कौटिल्य अपने समय की विद्याओं

---

१. धर्मसूत्रों को ही धर्मशास्त्र कहते थे। धर्मशास्त्र और धर्मसूत्र में अन्तर है, और धर्मशास्त्र शब्द केवल बाद की स्मृतियों के लिए बर्ता जाता था, इस प्रचलित विचार का पूरा खण्डन जायसवाल जी ने अपने ग्रन्थ मनु और याज्ञवल्क्य (कलकत्ता युनिवर्सिटी के १९१७ के टागोर-व्याख्यान, (१९३० में प्रकाशित)) में किया है।

का परिगणन आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दंडनीति—इन चार विभागों मे ही करता है, और इतिहास-पुराण को वह त्रयी के परिशिष्ट रूप मे गिनता है। वार्त्ता और दण्डनीति अर्थशास्त्र में सम्मिलित थे, त्रयी मे सब वेद-वेदांग और वेदांगो के विकास से बने हुए विज्ञान भी।

बाकी रही आन्वीक्षिकी, सो उस समय का आरम्भिक दर्शनशास्त्र था। कौटिल्य के समय तक केवल तीन किस्म की आन्वीक्षिकी थी—सांख्य, योग और लोकायत। षड् दर्शन तब तक पैदा न हुए थे। उस आरम्भिक आन्वीक्षिकी का कोई ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। किन्तु उपनिषदों के आगे पूर्व-नन्द-युग तक भारतीय दार्शनिक चिन्तन का विकास कैसे हुआ, उसे समझने के लिए हमारे पास एक बहुत कीमती ग्रन्थ है, और वह है भगवद्-गीता। भगवद्गीता को कई विद्वान् शुंग-युग (१८८—७५ ई०पू०) का और कई उसके भी बाद का मानना चाहते हैं। किन्तु बहुत सोचने-विचारने के बाद मुझे स्वर्गीय सर रामकृष्ण गोपाल भण्डार-कर का ही मत ठीक जँचा है कि वह पाँचवीं शताब्दी ई० पू०—पूर्व-नन्द-युग—की रचना है।

हमने देखा कि पुराण-इतिहास-वाङ्मय का बड़ा अंश महाजनपद- और पूर्व-नन्द-युग में सम्पादित हुआ। वाल्मीकि-रामायण तभी के समाज को चित्रित करती है। फिर बहुत से वेदांग—धर्मसूत्र आदि—तभी के हैं। हम देखेंगे कि पालि वाङ्मय की सबसे कीमती रचनाएँ भी उसी युग में पैदा हुईं। उनके

अतिरिक्त शास्त्रीय संस्कृत के उस आरम्भिक वाङ्मय की—जो वैदिक वाङ्मय को पिछले संस्कृत वाङ्मय से जोड़ता है—तीन अमर रचनाएँ इसी युग की उपज हैं। वे तीन रचनाएँ हैं—पाणिनि की अष्टाध्यायी, भगवद्‌गीता तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र। पाणिनि की अष्टाध्यायी विश्व-वाङ्मय का एक अद्भुत रत्न है। उसके मूलमात्र का अविकल अनुवाद शायद हिन्दी पाठकों को समझ न आय, इसलिए काशिका-वृत्ति के साथ उसका अनुवाद करना होगा और उसकी पद्धति को भी आधुनिक दृष्टि से स्पष्ट करना होगा। तीन जिल्दों में वह काम हो सकेगा।

भगवद्‌गीता के महत्त्व के विषय में कुछ कहना सूरज को दीपक दिखाना है। उसके जैसा अमर और अमूल्य रत्न विश्व के वाङ्मय में दूसरा पैदा न हुआ। शिक्षाओं की उच्चता में, त्रैकालिक सनातन सचाइयों का प्रकाश करने में और तेजस्वी सुर में वह अपना सानी नहीं रखती। उसके क्रान्तदर्शी लेखक ने अपना नाम न बता कर बड़े मौजूँ ढंग से कृष्ण वासुदेव के मुँह से कुरुक्षेत्र की युद्धस्थली मे अपने उपदेशों को कहला दिया है। आधुनिक युग का कोई लेखक गुरु गोविन्द के मुँह से बन्दा बैरागी को वैसा ही उपदेश दिला सकता था।

भगवद्‌गीता यदि प्राचीन आर्यों के त्याग के आदर्शों को हमारे सामने रखती है तो कौटिल्य का अर्थशास्त्र उनके व्यावहारिक जोवन और आदर्शों को खोल देता है। इस पहलू में वह भी अनोखा है। उसकी लहू और लोहे की नीति में तथा एक

ऊँचे उद्देश्य (भारतीय साम्राज्य की स्थापना) की पूर्त्ति के लिए कोई भी उपाय बर्त्तने की तत्परता में एक ऊँची दृढता निष्ठा और आदर्श-साधना की छाप है। सचमुच उसमें उस दृढव्रती ब्राह्मण के कभी न डगमगाने वाले गम्भीर हृदय की झलक है जो पैरों को चुभने वाले डंठलों को उखाड़ कर उनकी जड़ों मे मट्ठा सींचता था !

महाजनपद- और पूर्व-नन्द-युग कैसे गहरे विचारों और मौलिक रचनाओं के युग थे, सो ऊपर की विवेचना से प्रकट है। उन युगों के विचार और ज्ञान का केन्द्र और स्रोत तक्षशिला का विद्यापीठ था, जहाँ तीन वेद और अठारह विद्यास्थान पढ़ाए जाते थे। वहाँ के दिशा-प्रमुख (जगत्प्रसिद्ध, नानाराष्ट्रीय ख्याति के) पंजाबी आचार्यों के चरणों में बैठे बिना उस युग में कोई आदमी शिक्षित न कहला सकता। कुरु-पंचाल,[1] काशी-कोशल, मगध और विदेह से दल के दल नवयुवक—गरीब-अमीर, राजाओ और रंकों के पुत्र—तक्षशिला में पढ़ने को आ जुटते, और वहाँ से लौट कर अपने देशों मे बड़ा आदर पाते। वहाँ पढ़ाए जाने वाले अठारह विद्यास्थानों में विशेष कर आयुर्वेद की बड़ी प्रसिद्धि थी। दुर्भाग्य से तक्षशिला के आत्रेय आचार्यों का आरम्भिक आयुर्वेद

१. कुरु=आजकल का कुरुक्षेत्र दिल्ली मेरठ का प्रदेश; पञ्चाल= आधुनिक रुहेलखंड और फ़रुखाबाद-कन्नौज का इलाका ; कोशल= अवध ; मगध=दक्खिन बिहार ; विदेह=तिरहुत, उत्तरी बिहार।

विषयक कोई ग्रंथ आज उपलभ्य नहीं है। आचार्य पाणिनि तक्षशिला के पड़ोसी थे, कौटिल्य वहीं के थे, सम्भव है कि भगवद्गीता भी वहीं प्रकट हुई हो।

§ ६. पालि तिपिटक

तक्षशिला के उस गौरव के युग में ही विश्व के इतिहास के उस सबसे बड़े महापुरुष ने आर्यावर्त्त मे जन्म लिया जिसका नाम आज भी आधी दुनिया प्रतिदिन जपती है। बुद्ध के महा-परिनिर्वाण के ठीक बाद पाँच सौ भिक्खु राजगृह मे इकट्ठे हुए, और उन्होने उनकी शिक्षाओं का गान किया। वह पहली सगीति थी। सौ बरस बाद वैशाली[1] मे दूसरी संगीति हुई। फिर तीसरी संगीति अशोक के समय हुई। इन्हीं सगीतियों में बौद्धो का धार्मिक वाङ्मय तैयार हुआ। पहली संगीति के समय उस वाङ्मय के दो अंश थे—एक विनय, दूसरा धम्म। विनय अर्थात् भिक्खु-भिक्खुनियों के आचरण-विषयक नियम; धम्म अर्थात् धर्म-विषयक शिक्षाएँ। इन दोनों में प्रायः बुद्ध के अपने उपदेश थे। कौन-सा उपदेश बुद्ध ने कब, कहाँ, किन अवस्थाओ में दिया, यह उपक्रमणिका भी प्रत्येक उपदेश के साथ दर्ज है। उनके धम्म-विषयक उपदेश सुत्त—अर्थात् सूक्त—कहलाते हैं। वे सब प्रायः संवाद-रूप में हैं। वे पाँच निकायों—अर्थात् समूहों या

---

१. मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले में आधुनिक बसाढ़।

वर्गों—में बँटे हैं। उन संवादों मे संसार की सब से श्रेष्ठ सदाचार-शिक्षा अत्यन्त सरल और सीधे शब्दों में सुनाई देती है। संसार के एकमात्र आचारात्मक धर्म का सार उनमें निहित है। खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत धम्मपद और सुत्तनिपात मानों बौद्धों के गीता और उपनिषद् हैं। उसी निकाय का एक अंश उदान—अर्थात् बुद्ध की उद्गारमयी उक्तियाँ—भी है। शिक्षा की उच्चता, सदाचार के आदर्शों, शैली की सरलता और सीधेपन में निकायों का मुकाबला नहीं किया जा सकता।

अशोक के समय तक बौद्ध वाङ्मय तिपिटक रूप में आ गया, और तीसरी संगीति के शीघ्र बाद वह अपने अन्तिम रूप को पहुँच गया। तिपिटक मे विनय-पिटक, सुत्त-पिटक और अभि-धम्म-पिटक शामिल हैं। पुराना विनय विनय-पिटक में और धम्म सुत्त-पिटक में आ गया; अभिधम्म-पिटक पीछे की रचना है जो बौद्धों के आरम्भिक दार्शनिक चिन्तनों को सूचित करती है, और जिस पर बाद का सारा बौद्ध दर्शन उसी प्रकार निर्भर है जैसे वेदांत-दर्शन उपनिषदों पर। विनय के भी सब उपदेश ऐतिहासिक उपक्रमणिका के साथ—'ऐसा मैंने सुना है, एक बार भगवान्··· ···तब····' इस शैली मे—कहे गये हैं; इसी कारण बुद्ध की जीवनी का सबसे पुराना वृत्तान्त होने से उनका महत्त्व है।

सुत्त-पिटक के खुद्दकनिकाय मे थेरगाथा, थेरीगाथा, अपदान (थेर-अपदान, थेरी-अपदान) तथा जातकत्थवण्णना भी सम्मिलित हैं। अपदान का संस्कृत रूप है अवदान, और उसका अर्थ है शिक्षा-

प्रद ऐतिहासिक वृत्तान्त। अपदान मे बौद्ध धर्म के आरम्भिक थेर-थेरियो के पूर्व जन्म और इस जन्म के वृत्तान्त हैं, थेरगाथा और थेरीगाथा में उनकी गीतियाँ या वाणियाँ। उन चरितो और वाणियो मे बहुत से मनोरंजक अंश हैं; विशेष कर उन प्राचीन महिला सुधारिकाओ के चरित और गीत बड़े ही रुचिकर हैं। जातक कहानियाँ हैं, जो बुद्ध से पहले—महाजनपद-युग—की हैं, और जिन्हे बुद्ध के जीवन से जोड़ कर तिपिटक मे रख दिया गया है। बुद्ध के जीवन में कोई घटना घटती है; जिससे उन्हें अपने किसी पूर्व जन्म की कोई घटना याद आ जाती है। वे उस घटना को सुनाते हैं, और अन्त में उस पूर्व-जन्म की घटना मे कौन बोधिसत्व था और कौन क्या था, सो समोधान करते हैं। तथा-कथित पूर्व-जन्म की घटना जातक का अतीतवत्थु—अर्थात् असल कहानी-भाग—है जो बुद्ध से पहले का है। उसका सार दो-एक पालियों—अर्थात् पद्यों—में कहा होता है। वे पालियाँ अत्यन्त पुरानी हैं। ये साढ़े पाँच सौ के करीब जातक विश्व के वाङ्मय में जनसाधारण की सबसे पुरानी कहानियाँ हैं। मनोरंजकता, सुरुचि, सरलता, आडम्बर-हीन सौन्दर्य और शिक्षा-प्रदता में उनका मुकाबला नहीं हो सकता। वे बच्चों के लिए भी सरल और आकर्षक, जवानों और बूढ़ो के लिए भी रुचिकर, और विद्वानो के लिए प्राचीन भारत के जीवन का जीता-जागता चित्रण करने के कारण अत्यन्त मूल्यवान् है। उनका सीधापन और हल्का व्यंग्य लाजवाब है।

तिपिटक वाङ्मय का हिन्दी-अनुवाद द्वारा दिग्दर्शन करना हो तो आठ-दस जिल्दों में वह हो सकना चाहिए। जातकों की गिनती उन जिल्दों मे मैंने नहीं की; क्योंकि उनका अलग अविकल अनुवाद पाँच-छः जिल्दों में होना चाहिए।

§ ७. संस्कृत-प्राकृत वाङ्मय

भारतवर्ष के राजनीतिक इतिहास मे आरम्भिक आर्यों के युग के बाद महाजनपदो का युग आया, फिर नन्द-मौर्य-साम्राज्य का युग। वह साम्राज्य-युग पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से तीसरी ई० पू० के अन्त तक चला। मौर्य-युग में बौद्ध-जैन धर्मों का बड़ा प्रचार हुआ। उसके बाद एक भारी प्रतिक्रिया हुई पुराने वैदिक आदर्शों और जीवन को फिर से उठाने की। उसकी एक बाहरी—किन्तु अत्यन्त सारगर्भ—अभिव्यक्ति थी अश्वमेध का पुनरुद्धार। दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरम्भ में दक्खिन मे सातवाहन और उत्तर में शुंग राजाओं ने चिरकाल से लुप्त अश्वमेध-यज्ञ फिर से किये। उत्तर भारत मे शकों तुखारों के हमले होने से जब सातवाहनो का गौरव मन्द पड़ गया (७८—१७० ई०), तब भारशिव, वाकाटक और गुप्त राजाओं ने फिर उसी अश्वमेध के आदर्श को जगाया और जीवित रक्खा। सातवाहनों के उदय से गुप्त-साम्राज्य के अन्त तक (२१० ई० पू०—५३३ ई०) सारा अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग है। उसके दो स्पष्ट भाग हैं—पहला सातवाहन या साळवाहन-युग (२०० ई० पू०—२२५ ई०), दूसरा

वाकाटक-गुप्त-युग (२२५—५३३ ई०)। गुप्त-युग के साथ प्राचीन काल का अन्त होता है; आगे मध्य-काल है। नन्द-मौर्य-साम्राज्य-युग के एक तरफ़ जैसे आरम्भिक-आर्य-युग और महाजनपद-युग हैं, वैसे ही दूसरी तरफ़ सातवाहन-युग और गुप्त-युग। वह प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास के ठीक बीच मे पड़ता है। सस्कृति और वाङ्मय के इतिहास मे भी उसकी ठीक वही स्थिति है। उसमे उत्तर वैदिक वाङ्मय का अन्त होता है, और शास्त्रीय संस्कृत वाङ्मय का आरम्भ। संस्कृत वाङ्मय का सिलसिला यों तो मध्य-काल मे भी जारी रहा, पर उसके उत्कर्षमय जीवन का असल समय सातवाहन और गुप्त युग ही हैं।

पूर्व नन्दों, नव नन्दों और मौर्य सम्राटों के समय उत्तर वैदिक वाङ्मय अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँचा, पुराण-इतिहास-वाङ्मय का परिपाक हुआ, तिपिटक वाङ्मय का उदय और विकास हुआ, और एक स्वतंत्र वाङ्मय की धारा चली, जिसमें आन्वीक्षिकी, अर्थशास्त्र (वार्त्ता, दंडनीति) और अन्य विद्यास्थान सम्मिलित थे। ये सब धाराएँ आगे चल कर अनेकमुखी हो गई। वही संस्कृत और प्राकृत वाङ्मय है जिसका कई अशों मे अलग-अलग दिग्दर्शन करने में सुविधा होगी।

अ. दर्शन

उपनिषदों में तत्त्वचिन्तन की आरम्भिक उड़ानें हैं, दर्शनों मे हमें पहले-पहल शृंखलाबद्ध विचार मिलता है। उनमें से सांख्य

और योग मे विश्व के विकास की व्याख्या है; वैशेषिक और न्याय की मुख्य देन वैज्ञानिक प्रक्रिया है; वेदान्त, मीमांसा, बौद्ध, जैन और चार्वाक दर्शनों के आलोचनात्मक अंश अधिक मूल्यवान् हैं।

कौटिल्य के समय तक केवल तीन दर्शन थे—सांख्य, योग और लोकायत (चार्वाक)। सांख्य के प्रवर्त्तक कपिल को हमारे देश मे आदि-विद्वान्—अर्थात् पहला दार्शनिक—कहते है, अनुश्रुति के अनुसार उनका समय भारत-युद्ध के कुछ बाद है। गीता में भी सांख्य का नाम है। किन्तु गीता के सांख्य मे और आजकल की उपलब्ध सांख्य-पद्धति में बड़ा अन्तर है। उस पद्धति का विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ दीखता है। आजकल जो सांख्य-कारिकाएँ मिलती हैं, उनका कर्त्ता ईश्वरकृष्ण बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु का समकालीन—अर्थात् पाँचवीं शताब्दी ई० का—है। पञ्चशिख और वर्षगण्य उस पद्धति के प्राचीन लेखक थे, और षष्ठितंत्र भी उसी पद्धति की रचना थी। उन तीनों के उद्धरण पातञ्जल योगदर्शन के व्यासभाष्य मे हैं, पर ईश्वरकृष्ण का उसमें संकेत भी नहीं है। व्यासभाष्य मे दशगुणोत्तर गणना[1] का ज्ञान

---

१. दशगुणोत्तर गणना का यह अर्थ है कि इकाई के आगे शून्य लगा कर दहाई बनाना, इत्यादि। ६०० ई० तक के अभिलेखों में इकाइयों की तरह दहाइयों सैकड़ों आदि के भी अलग चिन्ह पाये जाते हैं।

पाया जाता है, जिस के तीसरी शताब्दी ई० से पहले रहने का कोई पता नहीं मिलता। इसी लिए व्यासभाष्य का समय ईश्वरकृष्ण से पहले—अदाज़न चौथी शताब्दी ई०—है; और षष्ठितंत्र आदि सांख्य ग्रंथ उससे और पहले के हैं। यदि षष्ठितन्त्र का समय अंदाज़न दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० हो, तो विद्यमान सांख्य-पद्धति का कोई और ग्रंथ उससे पहले भी था; क्योंकि चरक के सृष्टि-विषयक सब विचार आधुनिक सांख्य-पद्धति के है, और चरक कनिष्क (७८ ई०) का समकालीन था। इस प्रकार आधुनिक सांख्य-पद्धति ईसा से पहले परिपक्व हो चुकी थी। चरक की युक्ति-प्रक्रिया न्याय-वैशेषिक के तर्कशास्त्र की है, इस कारण वे दर्शन भी उससे पहले उपस्थित थे। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन दिङ्नाग से पहले का—इसलिए अन्दाज़न तीसरी शताब्दी ई० का—है। वैशेषिक का प्रशस्तपाद-भाष्य भी यदि उससे पहले का नहीं तो पीछे का भी नहीं है। इस दशा मे न्यायसूत्रकार अक्षपाद गौतम और वैशेषिक-सूत्रकार कणाद काश्यप ईसा से कुछ पहले के है; क्योंकि चरक के समय तक उनकी पद्धति सुस्थापित हो चुकी थी।

यह युक्तिपरम्परा डा० ब्रजेन्द्रनाथ शील की है। दूसरी तरफ जर्मन विद्वान् याकोबी का कहना है कि न्याय और वैशेषिक दर्शन नागार्जुन के चलाये हुए बौद्ध शून्यवाद के बाद के हैं, क्योंकि उन में उसका प्रत्याख्यान करने का यत्न किया गया है; और वे बौद्ध योगाचार दर्शन से अवश्य पहले के हैं, क्योंकि

उन में योगाचार की तरफ कहीं संकेत भी नहीं है। नागार्जुन अश्वघोष आचार्य के उत्तराधिकारी का उत्तराधिकारी था, और अश्वघोष कनिष्क का समकालीन था। इसलिए नागार्जुन का समय लगभग १५० ई० है। योगाचार का प्रवर्त्तक मैत्रेय आचार्य बसुबन्धु से पहले चौथी शताब्दी ई० में हुआ। इस प्रकार याकोबी के मत से न्याय और वैशेषिक २०० और ४०० ई० के बीच के हैं। योगदर्शन उनके मत मे योगाचार के बाद का है। किन्तु उस दशा मे न्याय-वैशेषिक पद्धति चरक से पहले कैसे थी? और योगदर्शन का व्यासभाष्य ईश्वरकृष्ण से पहले कैसे? फिलहाल मै याकोबी की स्थापनाओं पर अपना कोई मत प्रकट किये बिना केवल इतना कह सकता हूँ कि उनकी और डा० शील की स्थापनाओं में सामञ्जस्य करने का एकमात्र उपाय यह है कि या तो नागार्जुन से पहले शून्यवाद का किसी और रूप मे रहना माना जाय, या चरक से पहले न्याय-वैशेषिक का। इसी प्रकार चौथी शताब्दी ई० से पहले योगाचार-दर्शन का किसी और रूप मे रहना माना जाय।

मीमांसा और वेदान्त दर्शनों को पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा भी कहा जाता है। पूर्व-मीमांसा स्पष्टतः पहले की है। पूर्व-मीमांसा के कर्त्ता जैमिनि तथा वेदान्त के व्यास बादरायण कहे जाते हैं। किन्तु वे दोनों एक दूसरे को उद्धृत करते हैं। सच बात यह है कि विद्यमान रूप मे वे दोनों एक एक आचार्य की कृति नहीं, प्रत्युत सम्प्रदायों की उपज हैं,—उन दोनो आचार्यों

की शिष्य-सन्तानों में उनका संस्करण-सम्पादन होता रहा है। याकोबी के मत से विद्यमान रूप में वे दोनो भी शून्यवाद के पीछे और योगाचार से पहले के हैं।

इस प्रकार विद्यमान छहों दर्शन कौटिल्य के बाद—पिछले मौर्य युग या सातवाहन युग—की उपज है। उपनिषदों, भगवद्-गीता और अभिधम्म मे दार्शनिक चिन्तन की पहली अस्फुट-मार्गी उड़ाने थीं। शुरू-शुरू के बौद्ध, जैन और लोकायत विचारकों ने जब प्राचीन विचार की रूढियों पर खरी-खरी और सीधी-सीधी चोटें कीं, तब विचारों की उस खलबली मे शृंखलाबद्ध दार्शनिक विचार पैदा हुआ और हमारे दर्शनों ने जन्म लिया। शुरू-शुरू में सब दर्शन उत्तर वैदिक वाङ्मय की सूत्र-शैली मे लिखे गए, इसी से सूचित है कि वे पिछले मौर्य-युग या सातवाहन-युग के बाद की रचनाएँ नही हैं।

दर्शनों के क्रमविकास की विवेचना मे बादरायण और शङ्कर के वेदान्त का भेद विशेष उल्लेखयोग्य है। बादरायण का वेदान्त परिणामवादात्मक है—उसके अनुसार सृष्टि ब्रह्म का परिणाम है, अर्थात् ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है। दूसरी तरफ शङ्कर के वेदान्त का सार विवर्त्तवाद—अर्थात् सृष्टि को ब्रह्म की वास्तविक नहीं प्रत्युत काल्पनिक परिणति मानना—है। बादरायण से शंकर तक विचारों के विकास की कुंजी बौद्ध दर्शन से मिलती है। नागार्जुन के बाद बौद्धमार्गी दर्शन में योगाचार के प्रवर्त्तक मैत्रेय

और महायान के अन्तिम आचार्य आसंग और वसुबन्धु के नाम विशेष उल्लेखयोग्य हैं। आसंग और वसुबन्धु दोनों भाई पेशावरी थे। उनके मूल ग्रन्थ अब नही मिलते, उनके चीनी अनुवाद हैं। जापान के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ और चीनी त्रिपिटक के सम्पादक डा० ताकाकुसु ने वसुबन्धु का समय लगभग ४२०—५०० ई० निश्चित किया है। शकर पर वसुबन्धु का बड़ा प्रभाव हुआ। शंकर के ब्रह्मसूत्र-शांकर-भाष्य मे आज हम भारतवर्ष के दार्शनिक चिन्तन की जो सबसे ऊँची उड़ान देखते है, उसका श्रेय बहुत कुछ वसुबन्धु को है। उसके ग्रन्थ त्रिंशिका पर कई विद्वानों का मिल कर किया हुआ विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि नाम का एक भाष्य था, जिसका चीनी अनुवाद सम्राट् हर्षवर्धन के समकालीन प्रसिद्ध चीनी यात्री य्वाङ च्वाङ ने किया था। हाल मे एक चीनी विद्वान् के सहयोग से भिक्खु राहुल सांकृत्यायन ने उस अनुवाद से मूल संस्कृत ग्रन्थ का उद्धार कर के एक बड़ा काम किया है।

हम अपने दर्शनों के तत्त्व को ऐतिहासिक दृष्टि से उनका क्रमविकास देखे बिना नहीं पा सकते, यह बात आज हमें खूब समझ लेनी चाहिए। बादरायण से शंकर के विचारों तक हम कैसे पहुँचते हैं, इसका उदाहरण ऊपर दिया गया है। न्याय-दर्शन का क्रमविकास भी बौद्ध दर्शन के साथ जुड़ा हुआ है। वात्स्यायन-भाष्य अनेक आरम्भिक बौद्ध स्थापनाओं का प्रत्याख्यान करता है; उसके उत्तर मे दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय लिखा; तब उद्योतकर ने उसके उत्तर मे वात्स्यायन-भाष्य पर न्यायवार्त्तिक लिखा; न्याय-

वार्तिक का उत्तर धर्मकीर्त्ति ने प्रमाणवार्त्तिक[1] लिख कर दिया; तब उसके उत्तर में वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका आई। इस परम्परा को देखे बिना और प्रत्येक लेखक की परिस्थिति पर ध्यान दिये बिना हम उसके ठीक अभिप्राय को कैसे जान सकते हैं? भारतीय दर्शनशास्त्र की अनेक अमर रचनाओं के सामने आज भी ससार सिर नवाता है। नागार्जुन वसुबन्धु और शंकर के दार्शनिक चिन्तन जिस ऊँची सतह तक पहुँच चुके हैं, आधुनिक विचार की धारा उससे बहुत ऊपर नहीं उठ सकी। सारे भारतीय दर्शन का ऐतिहासिक दिग्दर्शन दस-पन्द्रह जिल्दों मे, चुने अशों का अनुवाद करने से, हो सकना चाहिए।

इ. व्याकरण और कोश

व्याकरण और कोश सूखे विषय हैं, पर ऐतिहासिक दृष्टि से उनका क्रम-विकास देखना भी मनोरञ्जक है, और उनके क्षेत्र मे भी कई रुचिकर तथा अमर रचनाएँ है। नमूने के लिए पतञ्जलि (लगभग १८० ई० पू०) का महाभाष्य ऐसी शाही शैली मे लिखा गया है कि मुझे तो उसके मुकाबले की शैली संस्कृत-वाङ्मय

---

१. मूल प्रमाणवार्त्तिक अब तक न मिलता था, उसका तिब्बती अनुवाद है। मेरे मित्र भिक्खु राहुल तिब्बती से संस्कृत तैयार कर रहे थे। किन्तु फागुन १९८८ में नेपाल जाने पर मुझे मालूम हुआ कि वहाँ प्रमाणवार्त्तिक की एक प्रति मिल गई है।

मे भी—ब्रह्मसूत्र-शाकरभाष्य के सिवा—और कहीं न मिली। और नहीं तो उसकी विवादशैली का ही रस उसके अंशानुवाद द्वारा हिन्दी-साहित्य-प्रेमियों को मिलना चाहिए। डाक्टर बेलवलकर ने अपने सिस्टम्स् आव संस्कृत ग्रामर (संस्कृत व्याकरण की पद्धतियाँ) में व्याकरण-वाङ्मय का जो क्रम-विकास दिखलाया है, उसमे भी हमारे राजनीतिक इतिहास के उतार-चढ़ाव की छाया दीख पड़ती है। पूर्णता और बारीक छानबीन मे पाणिनि की पद्धति अनोखी थी; वार्त्तिककार कात्यायन और महाभाष्यकार पतंजलि ने उन गुणों में उसे अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया। किन्तु जब आर्य उपनिवेश भारतवर्ष के बाहर स्थापित होने लगे, और अनेक अनार्यभाषी तथा थोड़ी फुर्सत वाले ('शास्त्रान्तररताश्च ये') लोगों को संस्कृत के किसी सुगम व्याकरण की ज़रूरत हुई, ठीक तब (अंदाज़न ७८ ई०) पुरानी ऐंद्र पद्धति की सुगम परिभाषाएँ बर्त्तने वाला कातंत्र व्याकरण तैयार हुआ। वह उन लोगों के लिए था जो प्राकृत से संस्कृत पढ़ना चाहते थे। कच्चायन का पालि व्याकरण और तामिल का तोल्कप्पियम् भी फिर उसी नमूने पर लिखे गये। पाँचवीं शताब्दी मे बौद्ध लेखक चन्द्रगोमी ने फिर एक नई पद्धति चलाई। उस चनान्द्र व्याकरण का तिब्बती मे अनुवाद हुआ, और सिंहल के बौद्धों में भी वही पद्धति चल गई। ग्यारहवीं सदी के अन्त में जैन हेमचन्द्र ने अपना प्रसिद्ध व्याकरण शब्दानुशासन लिखा। उसका अन्तिम चौथाई अंश प्राकृत-विषयक है; और भारतीय प्राकृतों के व्याकरण-विषयक हमारे ज्ञान का

वही मुख्य स्रोत है। संस्कृत का कोश-वाङ्मय भी भरपूर है, और उसमें अमरकोश जैसी अमर रचनाएँ हैं।

उ. ज्योतिष

वेदांग ज्योतिष क्या था, सो तो हम नहीं जानते; पर संस्कृत वाङ्मय के युग मे भी ज्योतिष की क्रमोन्नति जारी रही। आरम्भिक सातवाहन-युग में गर्ग नाम का ज्योतिषी हुआ जिसकी गार्गी संहिता के उद्धरण-मात्र अब मिलते हैं। फिर ज्योतिष के सिद्धान्त-ग्रन्थ लिखे गए, और यूनान और रोम के सिद्धान्त भी अपनाये गए। गुप्त-युग मे और उसके बाद आर्यभट, ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर, भास्कर आदि प्रसिद्ध ज्योतिषी हुए। यह सिलसिला लगातार जारी रहा है, और गणित तथा ज्योतिष में हाल तक हम दूसरी जातियो के अगुआ रहे हैं। भारतीय गणित और ज्योतिष-वाङ्मय में भी अनेक अंश स्थायी मूल्य के हैं, और कम से कम उसके क्रम-विकास का दिग्दर्शन तो बड़े काम का है।

ऋ. स्मृति- और नीति-ग्रन्थ

पूर्व-नन्द-युग के धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र की परम्परा में बाद के स्मृति- और नीति-ग्रंथों का विकास हुआ। सब से पहले शुंग-युग मे मनुस्मृति रची गई, फिर पिछले सातवाहनों के समय याज्ञवल्क्य-स्मृति और महाभारत-शान्तिपर्व का राजधर्म। नारद-स्मृति आरम्भिक गुप्त-युग की रचना है। कामन्दकनीति का कर्त्ता

सम्राट् चन्द्रगुप्त दूसरे का मन्त्री था, यह मत श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने हाल ही में पेश किया है। इनमे से प्रत्येक कृति में अपने अपने समय की परिस्थिति और विचारो की पूरी छाप है। मनु ने धर्म और व्यवहार को एक ग्रन्थ में मिला दिया। याज्ञवल्क्य ने उसका अनुसरण किया। किन्तु नारद ने फिर व्यवहार को धर्म के बन्धन से मुक्त किया, और बृहस्पति तथा कात्यायन ने भी शुद्ध व्यवहार-स्मृतियाँ लिखीं। मध्य काल में नई स्मृतियाँ नहीं रची गईं, पुरानियों पर भाष्य और टीकाएँ होती रहीं। उत्तर भारत में मुस्लिम राजसत्ता स्थापित हो जाने पर भी तिरहुत में ग़ियासुद्दीन तुग़लक के समय तक कर्णाट-वंश का राज्य बना रहा, और तुग़लकों की आधी शताब्दी की अधीनता के बाद वहाँ फिर एक ब्राह्मण-राजवंश स्थापित हो गया जो सिकन्दर लोदी और हुसेनशाह बङ्गाली के समय तक जारी रहा। मिथिला के इन पिछले हिन्दू राज्यों में स्मृति-वाङ्मय का अध्ययन विशेष रूप से जारी रहा, और उस पर अनेक निबन्ध (Digest) लिखे गए। इस प्रकार इस वाङ्मय का सिलसिला सोलहवीं सदी ई० तक चलता रहा। पहले स्मृति और नीति-वाङ्मय में अनेक अमर कृतियाँ है; और पिछले भाष्यों और निबन्धों में भी कई अंश काम के हैं। जर्मन दार्शनिक निशे ने यह कह कर युरोप में खलबली मचा दी थी कि मनुस्मृति की शिक्षाओं को बाइबल नहीं पहुँच पाती। इस वाङ्मय में से कौटिलीय के बाद मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति का तो अविकल अनुवाद

होना ही चाहिए; बाकी का दिग्दर्शन सात-आठ जिल्दों में हो सकना चाहिए।

ऌ. वैद्यक, रसायन, आदि

आरम्भिक जादू-टोने के साथ ओषधियों का प्रयोग भी सम्मिलित होता है, और उसी से धीरे-धीरे वैद्यक-शास्त्र का विकास होता है। सभी जातियों में यह बात ऐसे ही हुई है। इस प्रकार हमारे वैद्यक-शास्त्र का मूल अथर्ववेद में है। उत्तर-वैदिक-युग में आयुर्वेद एक उपवेद बन गया, और फिर महाजनपद- और पूर्व-नन्द-युग मे तक्षशिला विद्यापीठ में उसकी बड़ी उन्नति हुई। वैद्यक-शास्त्र के सबसे पुराने उपस्थित ग्रन्थ चरक और सुश्रुत के हैं। चीनी भाषा में अनूदित बौद्ध ग्रथो से पता मिला है कि चरक कनिष्क के समकालीन थे। आजकल चरक का जो ग्रन्थ हमे मिलता है वह दृढबल-कृत चरक-संहिता का पुनःसंस्करण है। मूल चरक-संहिता भी अग्निवेश की कृति का प्रतिसंस्करण थी। अग्निवेश आत्रेय पुनर्वसु के शिष्य थे। उनके अतिरिक्त कृष्ण आत्रेय और भिक्षु आत्रेय वैद्यक के सबसे बड़े प्राचीन आचार्य थे। इस प्रकार तक्षशिला के आत्रेय आचार्यों से चरक तक वैद्यक-शास्त्र के आचार्यों का एक सिलसिला हमारे देश में बना रहा। उसका केन्द्र पंजाब था। आत्रेयों से ले कर दृढबल तक उक्त सभी आचार्य पंजाबी थे। सुश्रुत धन्वंतरि के शिष्य थे। हमें अब जो सुश्रुत-संहिता मिलती है वह वृद्ध सुश्रुत का नागार्जुन-कृत पुनः-संस्करण है।

भारतीय ज्ञान और विज्ञान के इतिहास में नागार्जुन का नाम बड़ा आदरणीय है। उसका समय लगभग १५० ई० है, और वह दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ़) का निवासी था। वह महायान का प्रवर्त्तक था। सिद्ध नागार्जुन हर्षचरित के अनुसार एक सातवाहन राजा का मित्र था, इसलिए उसका समय भी दूसरी शताब्दी ई० के पीछे नहीं जा सकता। उसका सिद्धपन कुछ यौगिक क्रियाओं के कारण भी रहा हो, पर वह मुख्यतः रासायनिक सिद्धियों के—लोहे को सोना बनाने के रहस्यपूर्ण प्रयत्नों के—कारण था। सिद्ध नागार्जुन ही लोहशास्त्रकार नागार्जुन है; पारे के अनेक योग बना कर उसने रासायनिक समासों के ज्ञान में उन्नति की, और भारतीय वैद्यक में रसों का प्रयोग उसी ने जारी किया। महायान के बाद सिद्धि-प्रधान वज्रयान का उदय हुआ, इसलिए महायान-दार्शनिक नागार्जुन और सिद्ध नागार्जुन का एक ही व्यक्ति होना बहुत सम्भव—प्रत्युत एक ही समय होने के कारण लगभग निश्चित—है। सिद्ध नागार्जुन का सिद्धिशास्त्र जननशास्त्र-विषयक अमूल्य गुह्य ज्ञान का भंडार है।

नागार्जुन के अतिरिक्त एक पतंजलि का लिखा हुआ लोहशास्त्र बहुत प्रसिद्ध था, और उसके जो उद्धरण जहाँ-तहाँ मिले हैं उनसे उसका बड़ा महत्त्व सूचित होता है। पंडितों की अनुश्रुति के अनुसार योगदर्शन-कार पतञ्जलि और व्याकरण-महाभाष्यकार पतञ्जलि एक ही व्यक्ति है, और वही वैद्यक का आचार्य भी। उसका वैद्यक का आचार्य होना लोहशास्त्रकार होने के कारण ही

प्रसिद्ध हुआ, किन्तु पीछे उसकी चरक से अभिन्नता मान ली गई। इस अनुश्रुति को स्वीकार करना असम्भव है।

वैद्यक और रसायन की उन्नति चरक, सुश्रुत, नागार्जुन और पतञ्जलि के बाद भी जारी रही। वैज्ञानिक खोज का जो आरम्भ उन्होंने किया, वह बहुत आशाजनक और ऊँचे दर्जे का था; पर दुर्भाग्य से कुछ समय बाद उसमे आगे उन्नति बन्द हो गई। मध्य-काल में भारतीय विचार और ज्ञान की धारा में प्रवाह न रहा, जहाँ तक पहुँचे थे उसी को पूर्ण और अन्तिम मान कर भारतीय मस्तिष्क संकीर्ण बन कर उसी मे चक्कर काटने लगा। इसी से शृङ्खलाबद्ध भौतिक विज्ञान हमारे देश में पैदा न हुए, आरम्भिक तजरबे जमा हो कर रह गये। पर उन तजरबो मे भी अत्यन्त मूल्यवान् रत्न हैं। अभी तक आधुनिक रसायनशास्त्र हमारे रसों के रहस्य को खोल नहीं सका। उसके अनुसार हमारा मकरध्वज पारे का गन्धिद (Sulphide) है, पर आधुनिक साधारण प्रक्रिया से बने हुए पारे के गन्धिद में मकरध्वज के कोई गुण नहीं पाये जाते। सोने, पारे और गन्धक को कपड़मिट्टी की हुई बोतल में बन्द कर उपलों की आँच मे पका कर तैयार किये हुए पारे के गन्धिद मे जो सूक्ष्म प्रभाव आ जाते हैं, उन्हे आधुनिक विज्ञान अभी तक नहीं माप सका। इसी प्रकार के रहस्य अभी तक हमारे त्रिदोष-सिद्धान्त में और योग-क्रियाओ में छिपे हैं। आधुनिक दृष्टि से हठयोग के शारीरिक साधनाओं के अंश की गिनती चिकित्सा-शास्त्र मे और मानसिक साधनाओं की गिनती

मनोविज्ञान में करनी चाहिए। इन विषयों की ठीक व्याख्या आधुनिक विज्ञान की पद्धति से खोज करने पर ही हो सकेगी। वैसी खोज मे विज्ञान के अनेक नये तथ्य भी प्रकाश में आएँगे। किन्तु वैसी खोज के लिए भी आवश्यक है कि इन विषयों की मुख्य-मुख्य कृतियो को ऐतिहासिक क्रम मे कर के उनका प्रामाणिक सम्पादन किया जाय।

इनसे मिलता हुआ विषय कामशास्त्र का है। उस विषय के विचार का आरम्भ उपनिषदों में प्रसिद्ध श्वेतकेतु मुनि के समय से शुरू हो चुका था। वैसा होना स्वाभाविक भी था; क्योंकि श्वेतकेतु के ही विषय मे यह प्रसिद्ध है कि उसने विवाह-प्रथा को सुस्थापित किया; और जहाँ मर्यादित विवाह आदर्श माना जाने लगा, वहीं वह समस्या उपस्थित हो गई जिसे कामशास्त्र हल करता है। उस समस्या को वात्स्यायन ने जैसे स्पष्ट और सीधे रूप में कहा है वैसे शायद ही आज तक किसी ने कहा हो। वह कहता है कि पशुओं के नर और मादा को यदि परस्पर तृप्ति न हो तो वे दूसरी जोड़ी में तृप्ति कर सकते हैं; पर मनुष्य को मर्यादा से रहना पड़ता है, इसी कारण तृप्ति के अभाव के कारणों और उन्हें दूर करने के उपायों पर विचार करना पड़ता है। वात्स्यायन का कामसूत्र अपने विषय का अनूठा ग्रंथ है; वह एक स्थायी कृति है। उसका समय तीसरी शताब्दी ई० है। पीछे, मध्य-काल के भारतीय विचार मे प्रत्येक विषय में किस प्रकार प्रगति बंद हो गई, इसका एक अच्छा नमूना हमे इस विषय के पिछले ग्रंथों से

मिलता है। वात्स्यायन ने अपने समय के विभिन्न जनपदों की स्त्रियों के स्वभावों और प्रवृत्तियों की छानबीन की। अनंगरंग नाम का एक ग्रंथ दिल्ली के लोदी सुल्तानों के समय लिखा गया। उसका लेखक भी उस विषय को उठाता है, पर अपने समय की जाँच-पड़ताल अपनी आँखों और बुद्धि से करने के बजाय तीसरी शताब्दी ई० के जनपदों के नाम दोहराता हुआ वात्स्यायन के शब्दों का टूटा-फूटा अनुवाद कर डालता है, यद्यपि लोदी-युग के राजनीतिक नक्शे में उन जनपदों का नाम-निशान भी बाकी न था, और पुराने जनपदों में नई जातियाँ बस चुकी थीं! अन्धी निर्जीव नकल का वह अच्छा नमूना है!

ए. ललित कला

कामशास्त्र का एक तरफ़ यदि वैद्यक से सम्बन्ध है तो दूसरी तरफ़ ललित कला से। वात्स्यायन के ग्रन्थ से ललित कला की बड़ी समुन्नत दशा सूचित होती है। उस समृद्धि के युग मे कलाओं का विकास होना स्वाभाविक था। वह सातवाहन-युग ही था जब कि भारतवर्ष के बुनी हुई हवा के जाले पहन कर रोमन स्त्रियाँ अपना सौंदर्य दिखाती थीं। नट-शास्त्र का उदय पाणिनि से पहले हो चुका था, सो कह चुके हैं। सातवाहन-युग में भरत का नाट्य-शास्त्र लिखा गया,[1] जो भारतीय संगीत और नृत्य-

---

१. उसमें पह्लव जाति का उल्लेख होने से उसका वह समय निश्चित होता है।

कला के विषय की अमर कृति है। सरगुजा के रामगढ़ पहाड़ की सीताबेंगा-गुफा की दीवारों पर लिखे चित्रों से सिद्ध है कि ईसा से पहले भारत में चित्रण-कला का भी विकास हो चुका था। किन्तु अजिंठा की जगत्प्रसिद्ध लेणियों (गुफाओं) के चित्र उस कला की सबसे कीमती और अमर उपज हैं। हाल में फ्रांसीसी विद्वान् दुब्रिऊल ने दक्खिन के कई मन्दिरों की दीवारों की सफेदी के नीचे पल्लव राजाओं के समय के जो अनेक चित्र ढूंढ निकाले हैं, उनसे खोज का एक नया सिलसिला चल पड़ा है। काञ्ची के पल्लव राजवंश का आरम्भ तीसरी शताब्दी ई० में हुआ था। मूर्त्ति-कला, स्थापत्य आदि विषयों के कई ग्रन्थ पुराणों के अन्तर्गत भी हैं। इन कलाओं की अन्तिम उन्नति मध्य-काल में हुई, और तब के कई ग्रन्थ—मानसार, राजमंडन आदि—उपलभ्य हैं।

ऐ. काव्य-साहित्य

वैदिक और उत्तर वैदिक वाङ्मय में काव्य-साहित्य का बीज-मात्र टटोला जा सकता है। संस्कृत वाङ्मय का वही मुख्य अंग है। सस्कृत और प्राकृत साहित्य का विकास वास्तव में पुराण-इतिहास वाङ्मय से हुआ। वाल्मीकि को आदि कवि कहते हैं। उसने रामचन्द्र की कोई ख्यात गाथाओं में रची होगी। फिर ५०० ई० पू० के करीब भारत और रामायण काव्यों के मूल रूप तैयार हुए। किन्तु असल साहित्य का उदय सातवाहन-युग में हुआ। २०० ई० पू० से २०० ई० तक भारत का महाभारत बना,

अर्थात् महाभारत अपने विद्यमान रूप में आया। रामायण को भी पहली शताब्दी ई० पू० मे अपना अन्तिम रूप मिला। ये सबसे पुराने काव्य थे। वही समय बौद्ध संस्कृत वाङ्मय के सरल और मनोहर गद्य में लिखे गए अवदानों अर्थात् ऐतिहासिक कथानकों का है। उनके बाद श्रव्य और दृश्य काव्यों की धारा ही बह पड़ी। भास का समय विभिन्न विद्वान् पहली शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० तक मानते हैं। किन्तु अश्वघोष की कनिष्क से समकालीनता निश्चित है। जब तक भास का समय स्थिर नहीं होता, अश्वघोष का शारिपुत्रप्रकरण संस्कृत का सबसे पुराना नाटक और उसका बुद्धचरित – महाभारत और रामायण के बाद – सब से पुराना काव्य कहा जायगा। शूद्रक का मृच्छकटिक, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, विष्णु शर्मा का पंचतंत्र आदि अत्यन्त हृदयग्राही और अमर रचनाएँ हैं। किन्तु संस्कृत-साहित्य-सागर के सबसे उज्ज्वल और अमूल्य रत्न गुप्त-युग मे प्रकट हुए। भारतीय आत्मा की जैसी पूर्ण चौमुखी अभिव्यक्ति कालिदास की कृतियों में हुई है, वैसी न तो वैदिक ऋचाओं में पाई जाती है, न उपनिषदों के तत्वचिन्तनों में और न बुद्ध तथागत के सुत्तों में। कालिदास मानों भारत का हृदय है। वह हमारे सामने भारतीय आदर्शों का चौमुखा समन्वय रख देता है। शाकुन्तल में वह आरम्भिक आर्यों के वीरता और साहस से पूर्ण सरस जीवन के आदर्श को अंकित कर अमर कर गया है, तो रघुवंश में रघु-दिग्विजय के बहाने भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता को एक सजीव ध्येय के रूप

में रख गया है। आज से दो बरस पहले, रघु के उत्तर-दिग्विजय के एक-एक देश की पहचान करते हुए जब मैंने उसका समूचा रास्ता टटोल डाला, तब यह देख कर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि आधुनिक भूगोल-शास्त्र, इतिहास, भाषाविज्ञान और जनविज्ञान के सहारे हम भारतवर्ष की जो स्वाभाविक सीमाएँ नियत कर पाते हैं, कालिदास ने अपनी सहज प्रतिभा से ही उन्हें ठीक ठीक पहचाना और अङ्कित किया है! उस महाकवि के विशाल हृदय की अनोखी सूझ और उसकी राष्ट्रीय आदर्शवादिता का वह उज्ज्वल प्रमाण है।[1]

गुप्त युग के बाद भी कम से कम भवभूति के समय (लगभग ७४० ई०) तक सस्कृत साहित्य की वही सजीवता बनी रही। उसके पीछे सहज सौन्दर्य का स्थान आलंकारिक सजावट लेने लगी और मध्य-काल की सड़ाँद अपना प्रभाव दिखाने लगी। पर राजशेखर जैसे मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में भी काफी ताज़गी है।

वाङ्मय के अन्य क्षेत्रों में प्राकृतों को नहीं पूछा गया, पर काव्य-साहित्य में उनका स्थान संस्कृत के बराबर है। प्रत्युत ठीक ठीक कहें तो अभिलेखों की तरह साहित्य मे भी पहले—प्रायः पहली शताब्दी ई० तक—प्राकृतों की ही प्रधानता रही। हाल की गाथासप्तशती और गुणाढ्य की बृहत्कथा से यह सूचित है।

---

१. भारतभूमि, पृष्ठ ३१८-१९।

बृहत्कथा का समय नई खोज से ७८ ई० सिद्ध हुआ है। भारतीय साहित्य का वह अनुपम रत्न आज हमे अपनी मूल पैशाची प्राकृत मे नही मिलता, पर उसके तीन संस्कृत और एक तामिल अनुवाद उपस्थित है।

संस्कृत और प्राकृत साहित्य के कुल रत्नों की गिनती करना कठिन है, तो भी अंदाज़न पचास-साठ जिल्दों मे उनका संकलन हो सकेगा।

ओ. पिछले इतिहास-ग्रन्थ

पुराणों का ऐतिहासिक वृत्तान्त बन्द हो जाने के बाद भी अनेक फुटकर ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे जाते रहे। बाण का हर्षचरित, बिल्हण का विक्रमांकचरित, सन्ध्याकर नन्दी का रामचरित आदि उनके उदाहरण हैं। पर उन सबसे ऊँचा स्थान कल्हण की राजतरंगिणी का है। बौद्ध ग्रंथ आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प के ऐतिहासिक अश की ओर हाल में ही जायसवाल जी ने विद्वानों का ध्यान खींचा है। उसके पीछे भी ऐतिहासिक प्रबन्ध लिखे जाते रहे, जिनके संग्रह प्रबन्धकोष, प्रबन्धचिन्तामणि आदि ग्रन्थ हैं। आरम्भिक सातवाहन-युग के बौद्ध संस्कृत वाङ्मय के अवदान सरल ऐतिहासिक कहानियों के रूप मे बेजोड़ रचनाएँ हैं। पुरानी दृष्टि से इन सब ऐतिहासिक ग्रन्थों की गिनती भी काव्यों में ही है, क्योंकि काव्य-शैली का उदय स्वयं पुराण-इतिहास से ही हुआ था।

§ ८. अभिलेख

पत्थर और ताम्रपत्र आदि पर खुदे हुए राजकीय और अन्य अभिलेख भारतीय इतिहास के पुनरुद्धार मे तो सहायक हुए ही हैं, वाङ्मय और साहित्य की दृष्टि से भी उनका बड़ा मूल्य है। गद्य और पद्य की अनेक अव्वल दर्जे की रचनाएँ उनमें हैं। रुद्रदामा का गिरनार-चट्टान का लेख, और राजा चन्द्र (चन्द्रगुप्त) का महरौली की लोहे की 'कीली' पर का लेख संस्कृत गद्य और पद्य के बहुत ही बढ़िया नमूने हैं। वैसे और अनेक संदर्भ अभि-लेखों में हैं। अभिलेख-वाङ्मय भी बड़ा विस्तृत है। उसका आरम्भ एक तरह से अशोक के समय से होता है। अशोक के अभिलेख मानों उसका पहला अध्याय हैं। वे सब पालि या प्राकृत में हैं। तब से दूसरी शताब्दी ई० तक सब अभिलेख प्राकृत मे ही पाए जाते हैं। यह बात ध्यान देने की है कि हिन्दू-कुश के चरणों में बसी कापिशी[1] नगरी से पांड्य-देश को मथुरा (मदुरा) तक, और हरउवती या अरखुती (आधुनिक अरगंदाब)[2] नदी की दून (आजकल के कंदहार-प्रदेश) से उड़ीसा तक, इन चार शताब्दियो के जितने अभिलेख चट्टानों, मूर्त्तियों, स्तम्भों

---

१. काफ़िरिस्तान का पुराना नाम कपिश है, उसकी राजधानी कापिशी थी, जिसका उल्लेख अष्टाध्यायी ४. २. ९९ में है।

२. हरउवती और अरखुती सरस्वती के रूपान्तर हैं, और अरखुती का रूपान्तर अरगन्द-आब। देखिए— भारतभूमि, पृ० १८९।

या सिक्कों आदि पर मिले हैं, वे सब भिन्न-भिन्न प्रादेशिक प्राकृतों मे नहीं, किन्तु एक ही प्राकृत में हैं, जो इन चार शताब्दियों मे भारतवर्ष की वैसी पूरी राष्ट्रभाषा थी जैसी हिन्दी आज भी नहीं हो पाई। वह प्राकृत—जिसे मोशिये सेनार ने 'अभिलेखों की प्राकृत' नाम दिया है—भारतवर्ष की राष्ट्रीय एकता का एक जीवित प्रमाण है। शक रुद्रदामा के ७२ शकाब्द के लेख से अभिलेखों मे संस्कृत का प्रयोग शुरू हुआ, और आगे वह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। दूसरी शताब्दी ई० के अन्त से हमें परले हिन्द (Further India) के परले छोर—आधुनिक फ्रांसीसी हिन्दचीन—तक से संस्कृत अभिलेख मिलने लगते हैं। किन्तु उपरले हिन्द (Serindia, आधुनिक चीनी तुर्किस्तान) की राजभाषा, जो वहाँ की कीलमुद्राओं (लकड़ी की तख्तियों) पर के अभिलेखों में पाई गई है, इस युग में गान्धारी[1] प्राकृत ही रही। गुप्त-युग के सब अभिलेख संस्कृत में हैं। मध्य-काल के अभिलेखों की संख्या और परिमाण प्राचीन काल वालों से कहीं अधिक है, और उस काल के पिछले अंश में उनमें संस्कृत के साथ-साथ देशी भाषाएँ भी आने लगती हैं। भारतवर्ष और बृहत्तर भारत में हिन्दू राज्यों का अन्त होने तक वह सिलसिला जारी रहता है। खोज मे अभी अनेक नये अभिलेख आये-दिन मिल रहे हैं; पर

---

१. तक्षशिला और पुष्करावती का चौगिर्द प्रदेश प्राचीन गान्धार था, अर्थात् रावलपिंडी-पेशावर इलाका। पुष्करावती काबुल और स्वात नदियों के संगम पर थी।

जितनी सामग्री मिल चुकी है, उसका सकलन पन्द्रह-बीस जिल्दों में हो सकता है।

§ ९. पिछला बौद्ध वाङ्मय

अ. पिछला पालि वाङ्मय

तिपिटक के बाद भी पालि वाङ्मय की परम्परा प्राचीन काल के अन्त तक चलती रही। दूसरी शताब्दी ई० पू० में मद्र देश (रावी-चिनाब-दोआब के उपरले भाग) की राजधानी शाकल (स्यालकोट) के यूनानी राजा मेनन्द्र को थेर नागसेन ने बौद्ध बनाया। मेनन्द्र या मिलिन्द और नागसेन के प्रश्नोत्तरों के रूप मे मिलिन्दपञ्हो नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में बौद्ध शिक्षा दी गई है। अशोक के समय सिंहल में बौद्ध धर्म पहुँचा था, तब से बराबर पालि वहाँ की पवित्र भाषा बनी रही। दीपवंस (अर्थात् द्वीपवंश —सिंहलद्वीप के राजवंश) और महावंस नामक दो प्रसिद्ध पालि ऐतिहासिक ग्रंथ वहीं लिखे गए। उनके अतिरिक्त पिछले पालि वाङ्मय में मुख्य वस्तु तिपिटक की अट्ठकथाएँ (अर्थकथाएँ, भाष्य) हैं, जिनमें बुद्धघोष धम्मपाल आदि प्रसिद्ध विद्वानों की कृतियाँ सम्मिलित हैं। उनमें भी बहुत से मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण अंश हैं जिनका संकलन अभीष्ट है।

इ. सर्वास्तिवाद और महायान के ग्रन्थ

पालि तिपिटक में बौद्ध धर्म का जो प्रारम्भिक रूप है वह थेरवाद कहलाता है। पीछे अनेक अन्य वाद भी पैदा हुए। कुछ

का आदेश था कि उनके अनुयायो उनकी शिक्षाओं को अपनी-अपनी भाषा में कहें-सुनें। इसी कारण प्रत्येक वाद का वाङ्मय उस प्रदेश की भाषा मे बना जो उस वाद का मुख्य केन्द्र था। पालि किस प्रदेश की भाषा थी, सो आज तक विवादग्रस्त है। पिछले अनेक वादों के वाङ्मय पालि तिपिटिक के नमूने पर ही बने; उनमें से कोई-कोई ग्रन्थ ही अब बाकी बचे हैं। मौर्य साम्राज्य के पतन-काल में मथुरा-प्रदेश में आर्य-सर्वास्तिवाद प्रचलित रहा। उसके ग्रन्थ संस्कृत में थे। अशोकावदान उसी की पुस्तक है। कनिष्क के समय गांधार और कश्मीर में मूल-सर्वास्तिवाद का जोर रहा। कश्मीर और गांधार के सर्वास्तिवादियों का पारस्परिक मतभेद मिटाने को ही कनिष्क ने चौथी संगीति जुटाई, जिसमे महाविभाषा नामक तिपिटक का एक भाष्य तैयार हुआ। उसी से उस वाद का नाम वैभाषिक पड़ा। सौत्रान्तिक सम्प्रदाय भी वैभाषिक से मिलता-जुलता है। उनका वाङ्मय भी सस्कृत में था, पर अब उनके ग्रन्थ चोन, मध्य एशिया और तिब्बत में ही मिले हैं। महावस्तु नामक एक बड़ा ग्रन्थ अब मिलता है जो महासांघिक सम्प्रदाय का विनय है। उसकी भाषा प्राकृत-मिश्रित एक विचित्र प्रकार की संस्कृत है।

वैभाषिक सम्प्रदाय से एक नये वाद का उदय हुआ, जिसे आचार्य नागार्जुन ने महायान नाम दिया। उसके लिए नये सुत्त बनाये गये जो सब संस्कृत में हैं। सुत्तों को संस्कृत में सूक्त कहना चाहिए था, पर इस पिछले वाङ्मय में वे सूत्र कहलाते हैं।

वास्तव में वे सूत्र नहीं, लम्बे-लम्बे सम्वाद हैं जिनमें प्रायः बुद्ध के मुँह से उसी पुरानी शैली—एवं मया श्रुतम्···—से भूमिका बाँध कर उपदेश दिलाया गया है। रत्नकूटसूत्र, ललितविस्तर (बुद्ध की जीवनी), सद्धर्मपुण्डरीक, प्रज्ञापारमिता सूत्र, सुखावतीव्यूह आदि इस पिछले बौद्ध वाङ्मय के अंग हैं। इस वाङ्मय को भी विनय, सुत्त और अभिधम्म मे बाँटा जाता है। वास्तव में बौद्ध संस्कृत वाङ्मय मे जो नई चीज़ है, वह या तो उसका अभिधम्म अर्थात् दर्शन है, और या उसके कुछ काव्य (जैसे ललितविस्तर) या अवदान। इनकी गिनती संस्कृत-प्राकृत-वाङ्मय के उक्त क्षेत्रों में हम पहले ही कर चुके हैं; यहाँ केवल स्पष्टता की खातिर इनका अलग उल्लेख किया जा रहा है। महायान का पहला दार्शनिक था नागार्जुन, और उसके बाद हुए वसुबन्धु और आसंग। ये दोनों विद्वान् भाई पाँचवीं शताब्दी ई० में पेशावर में प्रकट हुए। इनके ग्रन्थों के साथ महायान-वाङ्मय की पूर्ति हुई। पीछे दिङ्नाग के समय से बौद्ध तार्किक होने लगे।

उ. वज्रयान और तंत्र-वाङ्मय

जादू-टोना, कृत्या-अभिचार और अलौकिक सिद्धियों का मार्ग हमारे देश में अथर्ववेद के समय से प्रचलित था। उसमें से अनेक अच्छी चीज़ें—वैद्यक, रसायन, हठयोग आदि—भी पैदा हुईं, सो कह चुके हैं। दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० से बौद्ध धर्म पर भी उसकी छाँह पड़ने लगी, और धीरे-धीरे उसका प्रभाव

यहाँ तक बढ़ा कि महायान वज्रयान में परिणत हो गया। वह बौद्ध वाममार्ग है। संसार का सबसे पवित्र संयम एवं आचारात्मक धर्म किस प्रकार इस वाममार्ग में परिणत हो गया, सो मानव इतिहास की एक बड़ी पहेली है। उस पर मैंने भारतीय इतिहास की रूपरेखा में अपने विचार प्रकट किए हैं। वज्रयान के आरम्भिक आचार्यों ने संस्कृत में ग्रन्थ लिखे। उनमें से पद्मवज्र-कृत गुह्यसिद्धि, उसके शिष्य अनंगवज्र-कृत प्रज्ञोपाय-विनिश्चयसिद्धि, उसके शिष्य उड्डीयान (स्वात नदी की दून[1]) के राजा इन्द्रभूति-लिखित ज्ञानसिद्धि आदि कई ग्रन्थ प्राप्य हैं। सातवीं से नवीं सदी ई० तक इस पंथ के कुल चौरासी सिद्ध हुए जिनमें से पिछलों की वाणी अपभ्रंश या देशी भाषाओं में भी है। सुप्रसिद्ध गोरखनाथ उन्हीं सिद्धों में से था। तिब्बत वालों के गुरु पद्मसंभव और शान्तरक्षित (७५० ई०) तथा दीपंकर अतिश (१०४० ई०) वज्रयान के ही आचार्य थे। उनके समय में तिब्बत मंगोलिया और अफगानिस्तान से जावा सुमात्रा तक वह पन्थ फैल गया। इन आचार्यों और सिद्धों की रचनाएँ तिब्बती अनुवादों में भी सुरक्षित हैं। मानव इतिहास की उक्त भारी

---

1. दून संस्कृत द्रोणी का ठेठ हिन्दी रूप है, और उसका अर्थ है पहाड़ों के बीच घिरा हुआ मैदान। उस अर्थ में हिन्दी में घाटी शब्द का प्रयोग करना गलत है।

समस्या पर प्रकाश डालने के लिए उन ग्रन्थों का अध्ययन और मनन भी आवश्यक है।

बौद्ध वाममार्ग के साथ ही पौराणिक वाममार्ग के तन्त्रों की गिनती भी करनी चाहिए। शैव मार्ग में पाशुपत, कापाल और कालामुख पन्थो, वैष्णव मार्ग में गोपीलीला सम्प्रदाय, शाक्त में आनन्द-भैरवी, त्रिपुरसुन्दरी या ललिता की पूजा के पन्थ और गाणपत्य में हरिद्रागणपति और उच्छिष्ट गणपति आदि की पूजा में वही प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं। इन पंथों के तन्त्र बौद्ध वज्रयान के तन्त्रो की तरह हैं।

§ १०. जैन वाङ्मय

जैनों के प्रमाण-भूत धार्मिक वाङ्मय में अब ११ अंग, १२ उपाङ्ग, ५ या ६ छेद ग्रन्थ और ४ मूळ ग्रन्थ सम्मिलित हैं। यह गणना स्थानकवासी सम्प्रदाय के अनुसार है; दूसरे श्वेताम्बर १० पयन्ना या प्रकीर्ण ग्रन्थों को भी गिनती करते हैं। कई बार उनके अतिरिक्त २० और पयन्ना, १२ निर्युक्ति तथा ९ विविध ग्रन्थ सम्मिलित कर कुल ८४ प्रमाण-ग्रन्थ माने जाते हैं। दिगम्बर इन ग्रन्थों को नहीं मानते, उनके चार वेदों की तरह चार अनुयोग हैं।

अंग शब्द पर ध्यान देना चाहिए; उसके प्रयोग से सूचित होता है कि जैन वाङ्मय का उदय वेदांगों के युग में या उसके

ठीक बाद हुआ। जैन अनुश्रुति के अनुसार, भगवान् महावीर के शिष्य आचार्य सुधर्म ने जिस प्रकार महावीर के मुँह से सुना उसी प्रकार अंगों और उपांगों का पहले-पहल सम्पादन किया। वह बात पूर्व-नन्द-युग की होनी चाहिए, और इसमे सन्देह नहीं कि कुछ न कुछ जैन वाङ्मय किसी न किसी रूप में पूर्व-नन्द-युग में उपस्थित था। आगे जैन अनुश्रुति यों है कि सुधर्म के बाद प्रमुख आचार्य जम्बुस्वामी हुआ, फिर प्रभव, फिर स्वयम्भव; स्वयम्भव ने दशवैकालिक नामक मूळ ग्रन्थ रचा। स्वयम्भव का समय इस प्रकार अन्दाज़न नव-नन्द-युग के आरम्भ मे पड़ता है। उसका उत्तराधिकारी यशोभद्र बतलाया जाता है, जिसके पीछे केवल दो बरस के लिए सम्भूतिविजय ने जैनों की प्रमुखता की। उस के बाद प्रसिद्ध भद्रबाहु आचार्य हुआ जो चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन कहा जाता है। एक निर्युक्ति—अर्थात आरम्भिक धर्म-ग्रन्थों पर भाष्य—भद्रबाहु की लिखी मानी जाती है।

भद्रबाहु के समय मगध में एक घोर दुर्भिक्ष पड़ा जिस के कारण जैन साधु बड़ी संख्या मे प्रवास कर कर्णाटक चले गये। जो पीछे रहे उन की स्थूलभद्र आचार्य ने पाटलिपुत्र में संगत जुटाई, और उसी संगत में पहले-पहल जैन धर्म-ग्रन्थों का संकलन किया गया। कहते हैं, उस समय ११ अगों का तो सुविधा से संग्रह हो गया, पर १२ वाँ, जिस में १४ पूर्व थे, मगध में लुप्त हो चुका था। उन पूर्वों का ज्ञान केवल स्थूलभद्र को था, और

उसे भी कम से कम १० पूर्वों का ज्ञान नेपाल में इस शर्त्त पर मिला था कि वह उन्हें गुप्त रक्खे। स्थूलभद्र और उस के साथियों ने मगध में रहते हुए कपड़े पहनना भी शुरू कर दिया। भद्रबाहु ने वापिस आने पर अपनी अनुपस्थिति में किये गये संकलन की प्रामाणिकता न मानी, और न कपड़े पहनना स्वीकार किया। किन्तु उस समय इन कारणों से जैन पन्थ के दो भाग न हुए। भद्रबाहु के बाद स्थूलभद्र ही जैनों का आचार्य हुआ।

आजकल जो जैनो के आचारांग सूत्र, समवायाग सूत्र, भगवती, उपासकदशांग, प्रश्नव्याकरण आदि ११ अग-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन सब को ज्यों का त्यों स्थूलभद्र के समय का नहीं माना जा सकता। भद्रबाहु की कही जाने वाली निर्युक्ति में तो पहली शताब्दी ई० पू० तक की घटनाओं के निर्देश हैं। किन्तु उन ग्रन्थों के विशेष विशेष अंश उतने प्राचीन भी हैं, इस में सन्देह नहीं।

जम्बुस्वामी के बाद स्थूलभद्र तक जो छः आचार्य हुए, उन्हें जैन लोग श्रुतकेवली कहते है, क्योंकि उन्हे पूर्ण श्रुत अर्थात् ज्ञान था, और वही उन का कैवल्य अर्थात् मोक्ष था। उस के बाद के सात आचार्य दशपूर्वी कहलाते हैं, क्योकि उन्हें १२वें अंग के दस पूर्वों का ज्ञान था। राजा अशोक के पोते सम्प्रति मौर्य को जैन बनाने वाला सुहस्ती उन्हीं में दूसरा था। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार में जैसी सहायता दी थी, सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार में वैसी ही दी।

मौर्यों का पतन होने पर पाटलिपुत्र पर चढ़ाई करने वाले बलख के यूनानियों को खदेड़ भगाने वाला और पाण्ड्य देश से पञ्जाब तक का दिग्विजय करने वाला कलिङ्गदेश (उड़ीसा-तट) का चक्रवर्ती राजा खारवेल (लगभग १९५—१८२ ई० पू०) भी सम्प्रति की तरह जैन धर्म का अनन्य उपासक था। खारवेल के सुप्रसिद्ध हातीगुम्फा-अभिलेख में लिखा है कि उस ने उड़ीसा के कुमारी-पर्वत पर जैन ऋषियों का एक संघयन जुटाया, और मौर्य-काल में जो अंग उच्छिन्न हो गये थे उन्हें उपस्थित किया। आश्चर्य है कि जैन वाङ्मय या अनुश्रुति मे कहीं खारवेल का नाम भी नहीं पाया जाता!

अन्तिम दशपूर्वी आचार्य वज्रस्वामी का समय जैन अनुश्रुति के अनुसार लगभग ७० ई० आता है। कहते हैं कि उसी के शिष्य आर्यरक्षित ने सूत्रों को अंग उपांग आदि चार भेदों में विभक्त किया। यदि यह बात ठीक हो तो इसका यह अर्थ है कि मौर्य युग में जैन सूत्र इस रूप मे विभक्त न थे। और सच बात यह है कि मौर्य युग में थोड़े ही सूत्र होंगे; अधिक होने पर ही उन के विभाग की आवश्यकता हुई। सातवाहन-युग मे जैन वाङ्मय के विभिन्न अंशों का विकास लगातार होता रहा। जैन धर्म-ग्रन्थों का अन्तिम रूप जो अब पाया जाता है, वह गुप्त युग के अन्त में ४५४ ई० में काठियावाड़ की वलभी नगरी में हुए संघ में सम्पादित हुआ था।

आरम्भिक जैन वाङ्मय सब अर्ध-मागधी प्राकृत में था, जो कि उस अवधी भाषा का पूर्वरूप थी जिस में जायसी ने पद्मावत लिखी है। पिछली जैन रचनायें महाराष्ट्री प्राकृत और संस्कृत में हैं। जैन दर्शन का भी भारतीय दर्शन-शास्त्र के विकास मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। मध्य काल में अनेक जैन पुराण भी लिखे गये।

§ ११. तामिल वाङ्मय

सुदूर दक्खिन में आर्य सत्ता स्थापित होने पर पहले तो वहाँ आर्य भाषाओं से ही काम चलता रहा, और वहाँ के कुलीन और शिक्षित द्राविड लोग भी उन्हीं को बर्तने लगे। धीरे धीरे आर्य प्रवासियों के प्रयत्नों से स्थानीय द्राविड बोलियाँ भी आर्य लिपि में लिखी जाने लगीं, उन का व्याकरण बनाया गया, तथा आर्य भाषा की कलम लगने से वे क्रमशः परिष्कृत भाषाएँ बन गईं। तामिल भाषा का पहला व्याकरण अगस्त्य मुनि ने लिखा यह प्रसिद्ध है। वह अगस्त्य उत्तर भारत के प्रवासी आर्यों का कोई वंशज था।

तामिल भाषा की लता में वाङ्मय के फूल पहले-पहल आर्य रस के सींचे जाने से ईसवी सन् के प्रायः साथ-साथ प्रकट हुए। भारतवर्ष की अन्तिम दक्खिनी नोक—मदुरा और तिरुनेवली ज़िलों—मे ४०० ई० पू० के करीब उत्तर के आर्य प्रवासियो ने पाण्ड्य नाम का एक राज्य स्थापित किया। उसी समय आर्य

प्रवासियो के एक दूसरे प्रवाह ने सिंहल (लंका) पहुँच कर वहाँ अपनी सत्ता जमाई। पाण्ड्य और सिंहल के प्रायः साथ-साथ चोल और केरल राज्यों का उदय हुआ; पर कैसे हुआ, सो हम नहीं जानते। मौर्य और सातवाहन युगों में पाण्ड्य, चोल और केरल (या चेर)—ये तीन राज्य द्रविड देश में बने रहे। इन राज्यों की छत्रच्छाया मे तामिल भाषा के पौदे में आर्य कलम लगने की उक्त प्रक्रिया चलती रही, और अन्त में इन्हीं के क्षेत्र में तामिल वाङ्मय पहले-पहल प्रकट हुआ। पाण्ड्य देश की राजधानी मधुरा वाङ्मय का एक बड़ा केन्द्र रही। सातवाहन संस्कृति प्रतिष्ठान (पैठन) से मधुरा में प्रतिबिम्बित होती। वहाँ तामिल वाङ्मय का एक संगम् ईसवी सन् की पहली शताब्दियों—पिछले सातवाहन-युग—में जुटता था। तामिल वाङ्मय का कोई भी नया ग्रन्थ उस संगम्—अर्थात् साहित्य-परिषद्—से प्रमाणित होने पर ही प्रचार पाता। चोल, चेर और पाण्ड्य देश के कम से कम सात राजा वाङ्मय के बड़े संरक्षक माने गये। संगम्-युग में मामूलनार, परणर, तिरुवल्लुवर आदि महान् साहित्यसेवी प्रकट हुए। उसी युग में तामिल व्याकरण तोल्काप्पियम् लिखा गया, और बृहत्कथा का तामिल अनुवाद हुआ। मणिमेखलै, शीलप्पतिकारम् आदि अमर काव्य उसी युग की उपज हैं, और तिरुवल्लुवर का कुरल—जो विश्व-वाङ्मय का एक अनमोल रत्न है—उसी संगम् की खान से प्रकट हुआ। संगम्-युग तामिल इतिहास का सबसे उज्ज्वल युग है।

मध्य काल में तामिल वाङ्मय मे एक और लहर जारी रही। उस काल में अनेक आळवारों अर्थात् वैष्णव भक्तों और नायन्मारों अर्थात् शैव भक्तों ने जन्म लिया। तामिल देश से बौद्ध और जैन धर्मों को निकालने का काम उन्हीं ने किया। उनकी कृतियाँ भक्तिप्रधान हैं। आळवारों ने अनेक प्रबन्ध (=गीत) लिखे जिनके संग्रह तामिल वैष्णवों के धर्मग्रन्थ हैं। तामिल शैवों का विस्तृत वाङ्मय है जिसमे ग्यारह ग्रन्थ हैं। उसमें तिरुज्ञान-सम्बन्ध के तेवारम्—जो तामिल शैवों के लिए वैदिक सूक्तों के समान है—, माणिक्कवाशगर-कृत तिरुवाशगम्—जो उनका उपनिषद् है—, तिरुमूलर नामक योगी के रहस्यमय गीत—तिरुमन्त्रम् और सेक्किळार-कृत पेरियपुराण—जिसमें तिरसठ नायन्मारों के वृत्तान्त हैं—, सम्मिलित हैं।

मलयालम भाषा तामिल से ही फट कर अलग हुई। कनाडी वाङ्मय तामिल से कुछ पीछे का है। तेलुगु का वाङ्मय अन्य आधुनिक देशी भाषाओं की तरह नवीं-दसवीं शताब्दी ई० से शुरू हुआ।

§ १२. सिंहली वाङ्मय

सिंहली एक आर्य भाषा है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सिहल में आर्य प्रवासियों की बहुत बड़ी संख्या पहुँची।

सिंहली वाङ्मय बहुत पुराना था। अशोक का भाई या बेटा महेन्द्र और महेन्द्र की बहन संघमित्रा सिंहल में बौद्ध धर्म का सन्देश पहले-पहल ले गये थे। कहते हैं कि महेन्द्र ने ही पालि धर्मग्रन्थों की अट्ठकथाओ (=अर्थकथाओं, भाष्यों) का सिंहली में अनुवाद किया था। उन सबका अनुवाद महेन्द्र ने ही किया हो या उसने केवल उस कार्य का आरम्भ किया हो, पर इसमे कोई सन्देह नही कि पाँचवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में सिहलो अट्ठकथायें विद्यमान थीं। उस समय जब मगध के विद्वान् बुद्धघोष ने तिपि-टक की अट्ठकथायें लिखनी चाहीं तब उसके गुरु रेवत ने उसे बताया कि भारत में केवल तिपिटिक मिलता है, और अट्ठकथायें सिहल मे ही है। और रेवत की प्रेरणा से बुद्धघोष ने सिहल जा कर अनुराधपुर के विहार मे सिहली अट्ठकथाओं का फिर से पालि अनुवाद किया। बुद्धघोष के कार्य को धम्मपाल आदि ने पूरा किया। सिंहली के उन प्राचीन ग्रन्थो का पालि अनुवाद हो जाने पर वे सिहली ग्रन्थ बचे न रहे। उन ग्रन्थों की सिंहली भाषा वास्तव मे एक प्राकृत ही होगी।

मध्य काल से नवीन सिंहली वाङ्मय शुरू हुआ। उसमें बौद्ध-धर्मोपदेशपरक ग्रन्थों, पालि वाङ्मय की टीकाओं और उस वाङ्मय पर निर्भर आख्यायिकाओं की प्रधानता है। उसमें कई राजावलिय अर्थात् ऐतिहासिक ग्रन्थ विशेष काम के हैं।

§ १३. तुखारी, खोतनदेशी, सुग्धी और प्राचीन तुर्की वाङ्मय

आजकल के सिम्-कियांग् (चीनी तुर्किस्तान) में कम से कम आठवीं शताब्दी ई० पू० से शक, तुखार, ऋषिक (युचि) आदि जो जातियाँ रहती थीं, आधुनिक खोज ने सिद्ध किया है कि वे सब आर्य थीं।[1] अशोक के समय जब आर्यावर्त्ती आर्यों ने अपने उपनिवेश उनके देश में स्थापित किये, तब पहले तो वहाँ गान्धारी प्राकृत की प्रधानता हुई, परन्तु पीछे, जैसा द्रविड देश में हुआ था वैसा ही वहाँ भी हुआ। उस प्रदेश के तुखार आदि जंगली फिरंदर निवासी आर्यावर्त्ती आर्यों के संसर्ग से सभ्य हुए; उन्होंने लिखना सीखा; उनकी बोलियाँ धीरे-धीरे लिखित भाषाएँ बन गईं, और वाङ्मय से पुष्पित होने लगीं। आधुनिक फ्रांसीसी विद्वानों ने सिम्कियांग् देश का उन युगों के लिए उपरला हिन्द (Serindia) नाम रक्खा है। उपरले हिन्द की दो स्थानीय भाषाएँ थीं। तारीम नदी के उत्तर कूचा के चौगिर्द प्रदेश की भाषा को उसके अपने लेखों में आर्शी कहा है; पर उइगूर तुर्कों ने जब उस देश को जीता तब वे उसकी भाषा को तुखारी कहते थे; और आजकल के विद्वान् भी उसे कूची या तुखारी कहने लगे हैं।

१. देखिए—भारतभूमि पृ० ३१३—१४। वहीं पहले-पहल यह भी सिद्ध किया गया है कि युचि का संस्कृत रूप ऋषिक था। कोनौ और जायसवाल जैसे विद्वानों ने इसे स्वीकार कर लिया है!

तारीम नदी के दक्खिन खोतन-प्रदेश की भाषा के कई नाम तजवीज़ किए गए हैं, पर उनमे से खोतनदेशी नाम सबसे अच्छा है। तुखारी और खोतनदेशी दोनों आर्य भाषाएँ थीं;—तुखारी लैटिन केल्त भाषाओं से मिलती-जुलती, और खोतनदेशी ईरानी भाषाओं से। वे दोनों पहले-पहल आर्यावर्त्ती लिपि मे लिखी गईं, और गुप्त-युग में परिष्कृत भाषाओं के रूप मे प्रकट हुईं। उनके वाङ्मय—विचारों, शैली और विषयों में—सर्वथा भारतीय और संस्कृत शब्दों से भरपूर रहे। उनका अधिकांश संस्कृत बौद्ध वाङ्मय से अनूदित था। धर्मग्रन्थों के अतिरिक्त ज्योतिष, वैद्यक, काव्य आदि ग्रन्थ उनमे थे। तुखारी साहित्य की विशेष वस्तु एक किस्म का नाटक था, जो ठीक बँगला यात्रा के नमूने का होता। तुखारी पद्यों के छन्द सब संस्कृत के हैं, पर उनके नाम नये हैं—जैसे मदनभारत, स्त्रीविलाप आदि। तुखारी और खोतन-देशी वाङ्मयों में से बचे हुए कुछ पन्ने ही अब मिले हैं। इन भाषाओं के पड़ोस की पूरबी ईरान की सुग्धी भाषा में भी वाङ्मय के अनेक अनुवाद हुए। सुग्धी वाङ्मय का आत्मा भी भारतीय रहा।

पाँचवीं शताब्दी ई० में एशिया के उत्तरपूरबी छोर से उठ कर हूण लोग उपरले हिन्द में आ बसे। हूणों की एक शाखा पीछे तुर्क कहलाई, और उनके कारण मध्य एशिया तुर्किस्तान। तुर्कों के वहाँ बसने पर संस्कृत बौद्ध ग्रन्थो के अनुवाद उनकी भाषा मे भी हुए; तुर्की भाषा का सबसे पुराना वाङ्मय वही था। मध्य एशिया के प्राचीन स्थानों की खोज से अब

कुछ संस्कृत रचनायें तुर्की अनुवाद सहित पाई गई हैं। तिषस्व-स्तिक नामक वैसा एक संस्कृत ग्रन्थ और उसका तुर्की अनुवाद रूस से प्रकाशित हुआ है। महमूद गज़नवी के समय से कुछ पहले तुर्क मुसलमान होने लगे। अब कमाल पाशा ने फिर लहर पलट दी है। तरुण तुर्कों ने अपनी भाषा को अरबी लिपि के बन्धन से जब से मुक्त किया है, तबसे वे उन अरबी शब्दों को भी चुन-चुन कर निकाल रहे हैं जो मुस्लिम युग में उसमे घुस आये थे; और उनके स्थान को वे उन ठेठ तुर्की शब्दों से भर रहे हैं जो संस्कृत से अनूदित उन प्राचीन तुर्की ग्रन्थों मे पाये जाते हैं। इस दृष्टि से उन्होंने उस पुराने भारतीय तुर्की वाङ्मय का मनन करना हाल ही में शुरू किया है।

§ १४. तिब्बती वाङ्मय

उपरले हिन्द से आर्यावर्त्ती वर्णमाला और वाङ्मय ने तिब्बत पहुँच कर वहाँ की फिरन्दर जनता की बोली को लिखित और परिष्कृत भाषा बना दिया। उसी जागृति का परिणाम यह हुआ कि सातवीं शताब्दी ई० में तिब्बत मे पहला सुसंगठित साम्राज्य स्थापित हुआ। हर्षवर्द्धन के समकालीन पहले तिब्बती सम्राट् स्रोङ्चनगम्बो के समय से बारहवीं शताब्दी ई० के अन्त तक उत्तर भारत से अनेक विद्वान् तिब्बत जाते रहे। उन्होंने वहाँ भोटिया लेखकों की सहायता से एक विशाल वाङ्मय की सृष्टि की। तिब्बती बौद्ध वाङ्मय के कं-ज्यूर और त-ज्यूर दो मुख्य अंश

हैं। कंज्यूर में महायान और वज्रयान के ग्रन्थों के अनुवाद हैं, तंज्यूर में अनुवादकों के वृत्तान्त और व्याख्या। भारतीय पण्डितों के तिब्बत जाने और वहाँ काम करने का वृत्तान्त स्वयं एक अत्यन्त रुचिकर प्रकरण है। तारानाथ (सोलहवी शताब्दी ई०) के बौद्ध धर्म के इतिहास की तरह और कई ऐतिहासिक ग्रन्थ भी उस वाङ्मय में हैं। कई खोतनी ग्रन्थ भी तिब्बती अनुवादों में सुरक्षित हैं, जैसे गोश्रृंग-व्याकरण—अर्थात् खोतन के गोश्रृङ्ग-विहार का इतिहास।

तिब्बत के द्वारा भारतीय वाङ्मय मध्य-काल मे किस प्रकार मंगोलिया पहुँचा, सो और भी रहस्यपूर्ण और मनोरञ्जक वृत्तान्त है। विश्वविजयी मंगोल सम्राट् कुबलै खान के राजगुरु प्रतिभा-शाली तिब्बती विद्वान् फग्स्पा ने १२६० ई० के करीब मंगोल भाषा को भी भारतीय पद्धति की एक वर्णमाला में लिखने की प्रथा चलानी चाही। दुर्भाग्य से वह प्रयत्न सफल न हुआ।

§ १५. चीनी वाङ्मय में भारतीय अंश

चीन में भारतीय वाङ्मय और ज्ञान कैसे पहुँचा, उसकी कहानी बड़ी लम्बी है, और यहाँ उसे छेड़ा नहीं जा सकता। भारतीय वाङ्मय के चीन में पहुँचने, अनूदित होने और अपना प्रभाव डालने की परम्परा ईसवी सन् के आरम्भ से ले कर लगा-तार सवा हज़ार बरस तक चलती रही। भारत और चीन के उस

पारस्परिक सहयोग के इतिहास में अनेक महापुरुषों के नाम, अनेक निष्ठा और साहस से पूर्ण चरित तथा अनेक रोमाञ्चकारी घटनाएँ हैं। चीनी वाङ्मय के सहारे एक तो हम भारतीय वाङ्मय के बहुत से लुप्त रत्नों को वापिस पा सकते हैं; दूसरे, चीन मे सवा हज़ार बरस तक भारतीय रोशनी पहुँचते रहने के मनोरञ्जक और अद्भुत वृत्तान्त का तथा उस वृत्तान्त मे गुँथे हुए अनेक मनस्वियों के चरित्रों का उद्धार कर सकते हैं; तीसरे, जो चीनी विद्वान् दोनों देशों के उक्त सहयोग के सिलसिले मे भारत आते रहे उनके भारतीय अनुभव और वृत्तान्त हमारे लिए बड़े काम के हैं, और वे हमें चीनी वाङ्मय से ही मिल सकते हैं।

§ १६. फ़ारसी और अरबी वाङ्मयों पर भारतीय प्रभाव

सुग्धी भाषा प्राचीन ईरान के पूरबी भाग की थी, और उसका वाङ्मय संस्कृत से अनूदित था, सो हम ने अभी देखा। वह गुप्त-युग की बात है। उस से पहले सातवाहन-युग मे भी फ़ारिस पर भारतीय संस्कृति का बहुत प्रभाव पड़ चुका था। १४४ ई० में चीन में लोकोत्तम नाम का एक भिक्खु पहुँचा था, और उसी ने वहाँ संस्कृत ग्रन्थो का अनुवाद करने की नींव पहले-पहल जमाई थी। लोकोत्तम फ़ारिस का एक युवराज था, और अपने राज-पाट को छोड़ वह भिक्खु बना था। भारतीय वाङ्मय के अनेक ग्रन्थ पिछले युगों में भी फारिस में अनूदित होते रहे।

सुप्रसिद्ध पञ्चतन्त्र का सस्कृत से फ़ारसी अनुवाद हुआ, और फारसी से अरबी। वहाँ वह कलील और दिम्न (करटक-दमनक) की कहानी कहलाई। वैसी बात अन्य अनेक ग्रन्थो के विषय में भी हुई। फ़ारसी से अरबी में अनूदित भारतीय रचनाओ में एक वैद्यक-ग्रन्थ भी था। वह शायद चरक-सहिता हो रही हो।

भारत और अरब का पीछे सीधा सम्बन्ध हुआ। वह चीन और भारत के सम्बन्ध से ठीक उलटे नमूने का था। और अरब जाति की समृद्धि की तरह वह सम्बन्ध भी अल्पायु रहा। अरब लोग शत्रु के रूप मे सातवी-आठवीं शताब्दियों में भारत के सीमान्त पर मँडराते रहे। मध्य एशिया के देश उनके आने से पहले भारतीय सभ्यता के बड़े केन्द्र थे। आठवीं सदी के शुरू में जब सिन्ध और बलख को अरबों ने जीत लिया, तब भारतीय ज्ञान और संस्कृति का प्रभाव खलीफो के दरबार मे प्रकट होने लगा। संस्कृत से वैद्यक, ज्योतिष, नीति, काव्य, इतिहास आदि के अनेक ग्रन्थों के अरबी अनुवाद किये गये। खलीफा मसूर के समय (७५३—७४ ई०) सिन्ध से बगदाद आने वाले दूत अपने साथ ब्रह्मगुप्त ('सिन्दहिन्द') का ब्रह्मसिद्धान्त और खण्डखाद्यक ('अरकन्द') लाये; भारतीय पण्डितों की सहायता से अलफज़ारी और याकूब-इब्न-तारिक ने उनका उल्था किया। उन उल्थो का अरबों के ज्ञान पर बड़ा प्रभाव हुआ; अरब लोगों को वैज्ञानिक ज्योतिष का पता पहले-पहल उन्हीं से मिला। फिर खलीफा हारूँ-रशीद के समय (७८६—८०९ ई०)

हिन्दू ज्ञान के प्रवाह से बगदाद का दरबार आप्लावित हो उठा। 'बरमक' नामक वज़ीर-खानदान की वहाँ बड़ी ताकत थी; वे लोग बलख के थे; उनके पूर्वज बलख के नव-विहार मे पदाधिकारी रह चुके थे। वे नाम को ही मुसलमान बने थे; उस समय के लोग भी यह बात खूब जानते थे कि वे केवल नाम को मुसलमान हुए हैं। पुराने रिश्ते-नातों के कारण वे भारत से हिन्दू विद्वानों को बगदाद मँगाते, और उन्हे वहाँ वैद्य आदि के पदों पर रखते। अरब विद्यार्थियों और विद्वानों को वे अध्ययन के लिए भारत भेजते। वैद्यक, ज्योतिष, दर्शन, इतिहास आदि के अनेक ग्रन्थों के उन्होंने संस्कृत से अरबी उल्थे करवाये। अलमुवफ़्फ़क नामक विद्वान् को बरमक ने भारत भेजा था; वह अलबेरूनी का पूर्वगामी था। ७४३ हिजरी मे ख़जराजी इब्न अबी उसैबिया नामक अरब लेखक ने संसार के वैज्ञानिकों का एक इतिहास लिखा; उस में उस ने भारतीय वैज्ञानिकों के भी नाम दिये हैं।

उस युग में जो भारतीय ग्रंथ-रत्न अरबी में अपनाये गये, उन के अब नाम मात्र मिलते हैं, और उन नामों को चीन्हना भी कठिन है। तो भी आगामी खोज धीरे धीरे उनका पता निकाल लेगी। अरबी उल्थों में बचे हुए अनेक लुप्त भारतीय रत्नों का वैसी खोज से किस प्रकार फिर से पता मिल सकता है, इस का एक ताजा उदाहरण है। अबू सालेह इब्न शुऐब नामक एक अरब लेखक ने एक भारतीय इतिहास-ग्रंथ का अनुवाद किया, जिसका फिर फारसी अनुवाद १०२६ ई० में हुआ। उस फ़ारसी

पुस्तक का उपयोग अबुल हसन अली (११२६—११९३ ई०) ने मुजमल-उत-तवारीख मे किया, जिस के अंशो का अनुवाद ईलियट ने अपने भारतवर्ष के इतिहास में दिया है। हाल में श्रीयुत काशी-प्रसाद जायसवाल ने दिखलाया है कि वह प्राचीन भारत और विशेष कर सिन्ध के इतिहास का अनमोल ग्रन्थ है। उस में रव्वाल और बर्कमारिस (रामपाल अर्थात् रामगुप्त और विक्रमादित्य अर्थात् चन्द्रगुप्त) का वृत्तान्त भी है। रव्वाल के वज़ीर सिकर (=शिखर) के ग्रन्थ का संक्षेप अबू सालेह ने अदबुल-मुलूक नाम से किया। जायसवाल जी का कहना है कि शिखर ही कामन्दक था, और अदबुल-मुलूक कामकन्दीय राजनीति का ही सक्षेप है।

अरब के भारतीय वाङ्मय में महमूद गजनवी के कैदी संस्कृत के विद्वान् अलबेरुनी का ग्रन्थ सब से अधिक प्रसिद्ध है।

§ १७. परले हिन्द और हिन्दी द्वीपों के वाङ्मय

भारतवर्ष और चीन के बीच जो विशाल प्रायद्वीप है, उसे आज परला हिंद (Further India) अथवा हिंदचीन कहते हैं। हिंदचीन नाम से सूचित होता है कि उसमे आधा अंश हिंद का और आधा चीन का है। पर सच बात यह है कि तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी ई० से पहले उसमें चीन का कुछ भी अंश न था, वह पूरी तरह परला हिंद ही था। अशोक के समय हमारे आसाम प्रान्त से ले कर चीन के नानशान अर्थात् दक्खिनी पहाड़ तक उस समूचे विशाल देश मे तथा उसके दक्खिन समुद्र की द्वीपावली

में भयकर जंगली जातियाँ रहती थीं, जो पत्थर के चिकने हथियारों से जंगली जानवरों का शिकार कर अपनी जीविका चलातीं। वे जातियाँ हमारे देश की संथाल, मुंडा, शबर, खासी आदि जातियों की सगोत्र थीं। सभ्य संसार के आग्नेय कोण में रहने के कारण जर्मन विद्वान् श्मिट ने उनके वंश का नाम आग्नेय (Austric) रक्खा है।[1] अशोक से भी पहले महाजनपदों के युग मे उनके देश मे भारतीय नाविक जाने-आने लगे, और वहाँ सोने की खानें पाने के कारण उन्होने उसे सुवर्ण-भूमि तथा उसके कई द्वीपों को सुवर्ण-द्वीप नाम दिया। अशोक के समय सुवर्णभूमि में भी बुद्ध का सन्देश पहुँचाया गया। उसके बाद सातवाहन युग में उस विशाल प्रायद्वीप और उस द्वीपावली के एक छोर से दूसरे छोर तक भारतीय उपनिवेश बस गये। उन उपनिवेशों के संसर्ग से स्थानीय आग्नेय जातियाँ भी सभ्य हो चलीं, और आर्यों के धर्म-कर्म, रीति-रिवाज, भाषा, लिपि और नामों तक को अपनाती गईं। ईसवी सन् के आरम्भ से तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक वहाँ अनेक भारतीय राज्य बने रहे, जिनमें संस्कृत राजभाषा के रूप में बर्त्ती जाती रही। किन्तु जैसा दक्खिन भारत और उपरले हिंद में हुआ था, वैसे ही वहाँ भी आर्यावर्त्ती वर्णमाला और वाङ्मय के संसर्ग से स्थानीय बोलियाँ अनेक शताब्दियों बाद परिष्कृत हो कर लिखित भाषाएँ बन गईं, और वाङ्मयों का

---

१. पूरी विवेचना के लिए देखिए—भारतभूमि § ४१।

विकास करने लगीं। उनकी लिपि और वर्णमाला आर्यावर्त्ती रहीं, उनमे संस्कृत शब्दों की कलम लग गई, और उनमें जो वाङ्मय खिला वह सर्वथा भारतीय नमूने का। इस प्रकार कम्बुज की कम्बुजी या ख्मेर भाषा, चम्पा उपनिवेश (आधुनिक फ्रांसीसी हिंद्चीन) की चम भाषा और जावा की कवि भाषा आर्यावर्त्ती अक्षरों मे लिखी गईं, और उनमें वाङ्मय का अच्छा विकास हुआ। कवि और उसके अतिरिक्त भारतीय द्वीपावली की पाँच और भाषाओं की लिपियाँ वास्तव में कंबुजी से ही निकलीं।[1] इन सब भाषाओं के वाङ्मय पूरी तरह भारतीय वाङ्मय पर निर्भर और भारतीय आदर्शों से अनुप्राणित हैं। कवि भाषा नवीं शताब्दी ई० से अभिलेखों में संस्कृत के साथ-साथ प्रकट होने लगी। फिर बारहवीं शताब्दी मे उसके साहित्य का स्वर्ण-युग रहा। उसमें अनेक अच्छे काव्य—अर्जुनविवाह, विराट्पर्व, स्मरदहन, भारत-युद्ध आदि—, तथा इतिहास-ग्रन्थ—नागरकृतागम आदि—हैं।

§ १८. परिणाम

बारहवीं शताब्दी के कुछ पहले और कुछ पीछे भारतवर्ष की अपनी देशी भाषाओं का भी उदय होने लगा। उनके वाङ्मयों का विषय बहुत कुछ परिचित है। इस लेख मे मैं उसे जान-बूझ कर छोड़ता हूँ।

---

१. भारतभूमि, पृष्ठ २७०।

उपर्युक्त विवेचना से यह प्रकट हुआ होगा कि भारतीय वर्णमाला और वाङ्मय के अभ्युदय और अवनति का इतिहास वास्तव में भारतवर्ष के अभ्युदय और अवनति का इतिहास है। एक के बिना हम दूसरे को नहीं समझ सकते।

इस विषय का आगे अध्ययन जो पाठक-पाठिका करना चाहें, वे मेरे ग्रन्थ भारतीय इतिहास की रूपरेखा के निम्नलिखित अंशों को विशेष रूप से पढ़ें—परिच्छेद §§ २३, ४३, ४६, ६६, ७३, ७७, ७८, ७६, ८६ उ, ६६, ११२, ११३, ११५, १४६ इ-लृ, १५४, १७५, १८५ इ, १६० और १६१; परिशिष्ट अ [३] और इ; टिप्पणियाँ * * ४, ६, १४, १६ और २५।

उसी लेखक की कलम से

(१)

भारतभूमि और उसके निवासी

नागरी-प्रचारिणी सभा काशी से

सं० १९८८ की सर्वोत्तम हिन्दी रचना

मानी जा कर द्विवेदी-पदक पाने वाली पुस्तक

अपनी मातृभूमि की जानकारी पाये बिना आप शिक्षित नहीं कहला सकते; वह जानकारी एकमात्र इसी ग्रन्थ से पाइएगा। प्रसिद्ध विद्वान् रा० ब० हीरालाल ने इसकी प्रस्तावना लिखी है। वे लिखते हैं—

"पं० जयचन्द्र विद्यालंकार की यह एक नई सूझ है जो भूगोल को शास्त्र का रूप दे रही है। अभी तक भूगोलों के ग्रन्थकार पर्वत, नदी, नाले आदि का वर्णन कर सन्तोष कर लेते थे, परन्तु भौगोलिक स्थिति से इस देश के इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका विवेचन पहले-पहल पं० जयचन्द्र ही ने किया है। प्रत्येक विभाग का···भौगोलिक निरूपण···आर्थिक··दिग्दर्शन करा के ऐतिहासिक पर्यालोचन बड़ी खूबी के साथ किया गया है।···आप का प्रयत्न अनेक लोगों की आँखें खोल देगा।"

'भारतभूमि' पर कुछ सम्मतियां

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"यह तो अद्भुत और अनमोल पुस्तक है। इससे आपके प्रचुर पाण्डित्य का पता सहज ही लग जाता है। हिन्दी साहित्य को आपने एक अपूर्व रत्न दान किया।"

डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी लिखते हैं—

"It is very well conceived and....very carefully written..assure you of my sincere appreciation of your book, which is a fine and a useful piece of work"

हमारे देश में चीन और भारत के प्राचीन सम्बन्धों के एकमात्र प्रामाणिक विद्वान् डा० प्रबोधचन्द्र बाग्ची लिखते हैं—

"Your admirable book—Bharatabhumi....you have thrown light on a large number of dark problems"

स्वीडन के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ डा० स्टेन कोनौ की सम्मति में

Your Bharatabhumi is very useful as a handy book of reference

'विशाल भारत' में भदन्त राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं—

"वैज्ञानिक ढंग पर लिखे ··· ग्रन्थो की हिन्दी में कितनी कमी है। ··· (यह) पुस्तक एक ऐसी कमी को पूरी करने वाली है। ·· वही सुपरीक्षक दृष्टि · · यह पुस्तक इस दृष्टि को तेज़ करने के लिए बड़ी ही उपयोगी चीज़ है। ··· और भी कितनी ही विशेषतायें हैं।"

'जर्नल आव दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी' में श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल लिखते हैं—

"R B Hiralal....commends the labour and insight of the author, which I endorse..New and reliable matters based on solid research abound in this closely printed little book."

'भारतभूमि' की कुछ विशेषतायें

(१) भारत गर्म देश है, इसलिए यहाँ के लोग कमज़ोर और ठंडे मुल्क वालों का शिकार होते हैं—ऐसे अन्ध-विश्वासों का पूरा प्रत्याख्यान किया गया है।

(२) भारत के सामरिक भू-अंकन (Military Geography) पर यह पहली पुस्तक है।

(३) सीमान्तों का ऐसा पूर्ण ब्यौरेवार और स्पष्ट वर्णन और किसी ग्रन्थ में नहीं है।

(४) भारत की परम्परागत जातीय भूमियों—बंगाल, महाराष्ट्र, अन्तर्वेद आदि—का पूरा ब्यौरा और नक्शा इसी ग्रन्थ में पहले-पहल दिया गया है।

(५) "भारतीय जातियों का समन्वय" प्रकरण मे भारत की राष्ट्रीयता के प्रश्न पर गहरा विचार किया गया है।

(६) अफगानिस्तान, पामीर आदि के स्थानों के प्राचीन संस्कृत नाम।

इत्यादि इत्यादि। दाम—अजिल्द २); सजिल्द २।)

भारतीय इतिहास की रूपरेखा

प्राचीन भारत के इतिहास का ऐसा प्रामाणिक ग्रन्थ आज तक किसी भाषा मे नहीं लिखा गया। रौयल साइज़, दो जिल्दें, प्रत्येक ६०० पृष्ठ की; दाम अन्दाज़न ५) प्रति जिल्द; प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकाडमी प्रकाशित कर रही है। भारतीय इतिहास के दो प्रमुख आचार्यों की सम्मति सुनिये—

'रूपरेखा' मैंने आद्योपान्त सुनी।...बड़े श्रम और गवेषणा से लिखी गई है।...ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रकाशन से ही हिन्दी का गौरव बढ़ सकता है।..मैं कर्त्ता को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता।

अजमेर, १९. ९. २९ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

I have examined Mr Jay Chandra Vidyalankara's Outlines of Indian History (Ancient Period). *It is a unique work* From the Vedic age upto the end of the Gupta period, Indian History has been surveyed in all its aspects—political, social, and cultural The author has utilized the researches by various scholars up-to-date, and has added his own contributions which are important *Such a synthetic work had not been attempted before* The book is in Hindi. This will stand in the way of the author's results reaching foreign scholars.

The learned author's method is perfectly critical and his judgment logical

The work deserves to be translated into English.

Patna 31st, July 1931. K P JAYASWAL